हिन्दीपर फारसीका प्रभाव

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दीपर फ़ारसीका प्रभाव

लेखक

पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग

तृतीय संस्करण २१००

सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग

भूमिका

"हिन्दी साहित्यपर फारसीका प्रभाव" कलकत्ता विश्वविद्यालयकी हिन्दीकी एम० ए० परीक्षाका विषय था। परन्तु इस विषयपर कोई पुस्तक न थी, जिससे परीक्षकों और पाठकों सबको असुभीता होता था। इसलिये कलकत्ता विश्वविद्यालयके संस्कृत और हिन्दीके व्याख्याता महामहोपाध्याय पण्डित सकलनारायण शर्माके आग्रहसे यह पुस्तक लिखकर सं० १९८९ में गंगादशहराके दिन पूरी कर दी गयी थी। परन्तु विश्वविद्यालयसे इस रूपमें पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकती, इसलिये अङ्गरेजीमें इसका रूपान्तर होना चाहिये। मित्रवर गणिताचार्य स्वर्गीय डॉ० गणेशप्रसाद, एम० ए०, डी० एस-सी० के इस परामर्शके अनुसार इसका अङ्गरेजी उल्था किया गया, जो पुस्तक-रूपमें छपकर युनिवर्सिटीसे प्रकाशित हो चुका है।

इस पुस्तकके लिखनेमें जिन सज्जनोंके सुझावों और साहाय्यपूर्ण सम्मतिके लिये लेखक कृतज्ञ है, वे हैं स्थानीय इस्लामिया कालेजके प्रोफेसर मौलाना ए० एफ० एम० अब्दुलक़ादिर साहब एम० ए० और स्थानीय आर्यसमाजके पं० अयोध्याप्रसाद बी० ए०। यदि मौलाना साहबकी इस कामसे इतनी दिलचस्पी न होती, तो पुस्तक विशेष लाभदायक न हो सकती।

पुस्तक तैयार करनेमें जिन ग्रन्थोंसे सहायता ली गयी है, उनकी नामावली अन्यत्र दी गयी है। परन्तु सबसे अधिक सहायता शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब "आज़ाद" मरहूमकी दो लासानी उर्दू किताबों "आबेहयात" और "सख़ुनदाने फ़ारस" तथा स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा की "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" से मिली है। अङ्गरेजी संस्करण निकलनेके कुछ ही दिन पहले पण्डितजीकी पुस्तक देखनेमें आयी थी, इस-

लिये इसका विशेष उपयोग उसमें नहीं हो सका था। इस हिन्दी संस्करणमें उससे बहुतसे अवतरण दिये गये हैं, जिनसे पाठकोंको इस विषयका विशेष ज्ञान होनेकी आशा की जाती है।

यदि इससे पाठकोंका कुछ भी उपकार होगा, तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

कलकत्ता
अनन्त चतुर्दशी
सं० १९९४

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

दूसरे संस्करणकी भूमिका

इस संस्करणमें जो बातें बढ़ायी गयी हैं, उनमें कुछका सम्बन्ध तो फ़ारसी और संस्कृत शब्दोंके साम्यसे है और कुछका अरबमें भारतके ज्ञान-विज्ञानके प्रचारसे। और विषय प्रायः ज्योंके त्यों हैं।

लखनऊ
अक्षय तृतीया
सं० २००५

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

तृतीय संस्करणकी भूमिका

इस पुस्तकमें यह सिद्ध किया गया था कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषाके दो रूप हैं। परन्तु देखा गया कि इधर फारसी अक्षरोंमें लिखी हिन्दी वा उर्दूको क्षेत्रीय भाषा स्वीकार करानेके लिये वह स्वतंत्र भाषा-प्रसिद्ध की जा रही है। इसलिये इस संस्करणमें चोटीके कुछ मुसलमान विद्वानोंके मत उद्धृत किये गये हैं, जिनसे हिन्दी और उर्दूके विषयमें लोगोंकी नासमझी दूर हो सकेगी। ये अवतरण पं० हरिशंकर शर्मा कविरत्नके उस लेखसे लिये गये हैं, जो २५ नवम्बर १९५६ के स्थानीय 'नवजीवन' के परिशिष्टांकमें प्रकाशित हुआ है। शर्माजीने हिन्दी और उर्दूकी कविताका तुलनात्मक अध्ययन किया है इसलिये उनके मतका महत्त्व है।

शर्माजीने सर विलियम केरीकी सम्मति भी दी है। केरी साहब सीरामपुरके प्रसिद्ध मिशनरी विद्वान् १९ वीं शताब्दीमें हुए हैं। उन्होंने संस्कृत व्याकरणको ही अंगरेजीमें नहीं लिखा, पंजाबी, तेलुगु, कन्नड़ और बर्मी भाषाओंके व्याकरण भी १८२२ में प्रकाशित किये हैं। एक दूसरे अंग-रेज विद्वान् मि० जॉन बीम्सका मत भी हिन्दी-उर्दूकी अभिन्नताके विषयमें उद्धृत किया गया है। बीम्स साहब बंगालके सिविलियन थे और उन्होंने १८७४ में A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages तीन जिल्दोंमें प्रकाशित किया था। इस व्याकरणमें हिन्दी, सिन्धी, पंजाबी, बंगला, उडिया, मराठी और गुजरातीका तुलनात्मक विवेचन है।

लखनऊ
मि० पौष कृ० १४ रविवार सं० २०१३
ता० ३० दिसम्बर १९५६ ई०

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी

सहायक पुस्तकोंकी नामावली

हेमचन्द्र सूरि--प्राकृताष्टाध्यायी (बाम्बे संस्कृत सीरिज सन् १९०० का संस्करण)

पद्मसिंह शर्मा--हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी

गो० तुलसीदास--रामचरितमानस (निर्णयसागरका संस्करण)

रामनरेश त्रिपाठी --कविताकौमुदी १ ली जिल्द

पद्माकर--जगद्विनोद--(नवलकिशोर प्रेस, १९०० का संस्करण)

मुरारीदान कविराजा--जसवन्तभूषण (संवत् १९५४ का संस्करण)

चन्दबरदायी--पृथ्वीराज रासौ (नागरीप्रचारिणी सभाका संस्करण)

मीर अम्मन--बाग़ोबहार

अब्दुर्रहीम ख़ानेख़ानाँ--खेटकौतुकजातकम् (बनारस संस्करण)

जगदीशचन्द्र वाचस्पति--मौलाना रूम और उनका काव्य (संवत् १९८० का संस्करण)

उमरावसिंह कर्णिक--महाकवि अकबर और उनका उर्दू काव्य (सन् १९३० का संस्करण)

राजकिशोर--महाकवि नज़ीर और उनका काव्य (सन् १९२२ का संस्करण)

मौ० मुहम्मद हुसैन आज़ाद--आबेहयात
--सखुनदाने फ़ारस

एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका--९वाँ संस्करण

दीनानाथ देव—हिन्दुस्तानी ग्रामर

बालमुकुन्द गुप्त--हिन्दी भाषा

मौलाना सुलेमान नदवी--अरब और हिन्दके ताल्लुक़ात
इत्यादि इत्यादि।

John Beames—A Comparative Grammar of the Modern Aryan Languages (London, Triibner & Co. 1872)

विषय-सूची

प्रस्तावना

प्राचीन कालमें हिन्दुस्थान और ईरान दोनोमें ज्ञानका आदान-प्रदान निरन्तर हुआ करता था। अरबके साथ भी हिन्दका सम्बन्ध था। अरब लोग वाणिज्य-व्यापारके लिये यहाँ आते जाते थे और हमारे देशके मालका यूरोप और अफ्रीका आदिमें प्रचार किया करते थे। यही नहीं, अरबोंने भारतसे ज्योतिष, वैद्यक और अंकगणित शास्त्र सीखे थे। और इसीलिये अंक वा गिनतीको आज भी मुसलमान "हिन्दसा" ही कहते हैं। खलीफ़ा हारूँरशीदके जमानेमें हिन्दू पण्डित अरब-ईराक गये ही नहीं थे, बल्कि जेरूसेलमके हमीदिया पुस्तकालयमें हारूँरशीदके महामंत्री फ़ज़ल बिन यहियाका मुहर लगा हुआ एक ताम्रपत्र मिला है, जिसपर १२८ शेर लिखे हुए हैं, जिनमें भारतवर्ष, वेदों और आर्य ज्ञानविज्ञानकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। हारूँरशीदने बैत-उल किताब (विद्या मन्दिर) नामसे अनुवाद विभाग स्थापित किया था और दार्शनिक ग्रन्थोंका अनुवाद पारसी, ईसाई, यहूदी और हिन्दू अनुवादकोंसे कराया था। इसके उत्तराधिकारी मामूँरशीदने इस विभागको बहुत उन्नत किया था। हज़रत मुहम्मदसे ५०० वर्ष पहलेके कवि जरहम बिन ताईकी कवितामें गीताके "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां" इत्यादि श्लोकोंके आधारपर श्रीकृष्णावतार-की चर्चा और प्रशंसा है। इसमें महादेवकी आराधना इष्ट फल देनेवाली बतायी गयी है।

इससे स्पष्ट है कि उस समयके अरबोंको हिन्दू धर्मके विचारोंका ज्ञान अवश्य था। इसलामके उदयके पहले अरब किस धर्मके अनुयायी थे, इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है। कहा जाता है कि मक्केके काबा मन्दिरमें ३६० मूर्तियां थीं, जिनमें हर दिन एक मूर्तिकी विशेष पूजा होती थी। मुहम्मद साहब एकेश्वरवादी थे, इसलिये इन्होंने सब मूर्तियां मन्दिरसे

हटवा दीं। कदाचित् इन्हींसे एक पत्थर रह गया था, जो अबतक बना हुआ है और 'संगे असवद' कहाता है। इसे प्रत्येक हाजी चूमता है। इसके सिवा हाजी काबेकी परिक्रमा भी करते हैं। हजारों हाजी जब परिक्रमाके लिये दौड़ते हैं, तब बहुतसे ऊँट, जो रास्तेमें पड़ते हैं, पिस जाते हैं।

बल्खमें मनोचहरका बनवाया नौबहार नामका एक मन्दिर था, जिसके पुजारी बरामका कहाते थे। इस नौबहारके विषयमें हिब्नुल फ़क़ीह हमादानीने लिखा है, 'यह बरमकाका बनवाया हुआ मन्दिर था। उसका धर्म मूर्तियोंकी पूजा करना था। उनको मक्के और कुरैशके धर्मका जब पता लगा, तब उन्होंने भी यह उपासनामन्दिर बनवाया, जिसका नाम नौबहार हुआ। अरबोंसे भिन्न लोग यहां दर्शन करने आते थे। इसको (मूर्तिको) रेशमका कपड़ा पहनाया जाता था। ××××× मन्दिरके चारो ओर उसके पुजारियोंके रहनेके लिये ३६० कोठरियां थीं। सालके प्रत्येक दिनके लिये एक पुजारी रहता था और पुजारियोंके प्रधानकी उपाधि बरमका थी। इस बरमका शब्दका अर्थ होता है मक्केका द्वार और प्रधान पुजारी। इस प्रकार हर एक पुजारीकी उपाधि बरमक होती थी। चीन और काबुलके बादशाह इसी धर्मके अनुयायी थे। जब वे लोग यहाँ आते थे, तब विशाल मूर्तिके सामने नमस्कार करते थे। इससे काबेके मन्दिरका कुछ साम्य प्रतीत होता है और जान पड़ता है कि मक्केके ढंगपर यह मन्दिर बना था और जैसे कुरैश उसके पुजारी थे, वैसे बरमका इसके थे। इससे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि काबेके मन्दिर और बल्खके नौबहार मन्दिरमें बुद्धदेवकी पूजा होती थी। अरबी फारसीमें मूर्तिके लिये जो बुत शब्द प्रचलित है, वह बुद्धका ही अरबी रूप है। नौबहार नवविहार वा नवीन बौद्ध मठ ही था।

इससे जाना जाता है कि अरबोंको हिन्दू और बौद्ध धर्मोंका पता था और किसी समय अरब लोग बौद्ध मतावलम्बी थे। दूसरे लेखक कज़बीनीके लेखसे जान पड़ता है कि फारसवाले और तुर्क लोग भी दर्शन करने आते और चढ़ावा चढ़ाते थे।

हिन्द और अरबका इतना ही सम्बन्ध नहीं था। अरबी भाषामें हिन्दीके बहुत शब्द हैं और तो क्या कुरानमें ही हिन्दीके तीन शब्द हैं मस्क (मुश्क), जंजबील (सोंठ) और काफूर (कपूर)। हिन्दीके नाव सम्बन्धी शब्द भी अरबीमें पाये जाते हैं। ये हैं बारजा, दोनीज, बलीज, जोश, कनेर और नाखूजा। इनके रूप अरबीके हैं, इसलिये पहचानना कठिन होता है। मौलाना नदवीने इनकी पहचान निकाली है। बारजाको वे हिन्दी बेड़ा और दोनीजको डोंगी बताते हैं। बारजा शब्द ही उधर यूरोपमें पहुँचकर बार्ज बन गया जान पड़ता है। भारतके समुद्री डाकू बारजोंपर चढ़कर डाके डालते थे, इसलिये ये बवारिज कहलाने लगे। और भी, जहाजकी छतके लिये बलीज, नावके रस्सेके लिये जोश, और नारियलकी रस्सीके लिये कनेर शब्द अरबीमें प्रचलित हैं। पर हिन्दी या संस्कृतके अथवा प्राकृत वा सिंधीके किन शब्दोंके ये रूपान्तर हैं इसका पता अबतक नहीं लग पाया। हाँ, नाखुजा, नाखुदाका अरबी रूप है। नाखुदा फारसीमें नावके मालिकको कहते हैं; इसलिये नाखुदामें नाव हिन्दी शब्द और खुदा फारसी है। कच्छमें नाखुदाको नाखवा भी कहते हैं। बम्बईमें नाखुदा व्यापार करते हैं। सम्भव है पहले नौसंचालनका व्यापार करते करते उसे त्यागकर साधारण व्यापार करने लगे हों। कलकत्तेमें चीतपुर रोडपर जो बड़ी मसजिद है वह भी नाखुदा मसजिद कहाती है। इब्नुल फ़कीह हमादानी ने सन् ३३० हिजरीमें लिखा है कि हिन्द और सिंधको परमेश्वरने यह विशेषता दी है कि वहाँ सब प्रकारके सुगन्ध द्रव्य, रत्न जैसे हीरा, लाल आदि, गैंडा, हाथी, मोर तथा अगर, लौंग, सम्बुल, कुलंजन, दारचीनी, नारियल, हड़, तूतिया, बक्कम, वेद, चन्दन, सागौनकी लकड़ी और काली मिर्च पैदा होती है। यहाँसे जो कपड़े अरब लोग ले जाते थे, उनमें कर्फ़स (मलमल), शीत (छींट), बौतः (एकपटा) थे। कर्फ़स कर्पासका ही रूपान्तर जान पड़ता है। कर्पास हिन्दी कपासका संस्कृत रूप है। मलमल कर्फसका लाक्षणिक अर्थ है। फलोंमें मोज (मोचा--केलेका फूल), नारलजी (नारियल), अम्बज (आम), लेमूं (निम्बू) जाते थे। यहूदियोंकी धर्म-

पुस्तक तालमुद या तौरीतसे जाना गया है कि ईसासे दो हजार वर्ष पहले अरबके जो व्यापारी अनेक बार मिस्र जाते हुए दिखाई दिये हैं, उनके पास बलसान (सुगन्धितयुक्त फूल) सनोबर और दूसरे सुगन्ध द्रव्य थे। हिन्दू व्यापारी बनियाना और अरब व्यापारी ताजिर कहाते थे।

अरब और भारतके सम्बन्ध दो प्रकार के थे। वे यहाँसे स्वदेश वा अन्य देशोंमें बेचनेके लिये माल ले जाते थे। यहाँके पण्डितोंको ज्ञानार्जनके लिये स्वदेशमें बुलाते थे और इसी निमित्त यहाँ भी आते थे। कपड़े, चीनी, मिश्री, मसाले आदि यूरोप और अफरीकामें भारतसे अरब ही ले जाते थे। यूरोपवालोंकी दाढ़में गोल मिर्च लग गयी थी। पर उसके लिये उन्हें अरब व्यापारियोंका ही मुंह ताकना पड़ता था। उन्हें भारतका रास्ता मालूम नं था। इसलिये यहाँ आनेका प्रयत्न करके भी वे विफल हो जाते थे। ऐसे ही एक प्रयत्नमें पोर्तगीज यात्री वास्को डी गामाको एक अरब मल्लाह इब्न माजिदने नशेकी हालतमें हिन्दुस्थान पहुंचा दिया।

परन्तु अरबोंने भारतके व्यापारसे जितना नहीं कमाया, उससे अधिक लाभ उन्होंने भारतके ज्ञानसे उठाया। अवश्य ही अरबोंने मुहम्मद बिन क़ासिमकी अध्यक्षतामें सिंधपर चढ़ाई करके उसे जीत लिया था; परन्तु इसी आक्रमणके प्रसंगमें जब सन् ९६ हिजरी ईस्वी सन् ७२८ में वह सिन्धके एक छोटे नगरमें पहुँचा, तब उसे पता लगा कि वहाँके निवासियोंने दो बौद्ध धर्मावलम्बियोंको ईराकके शासक हज्जाज़के पास भेजकर पहले ही उससे सन्धि कर ली है और उससे अभयदान ले चुके हैं। पहले इसलामके ख़लीफ़ा शामकी राजधानी दिमिश्कमें रहते थे और अम्बिया खलीफा थे। बादको जब अब्बासी लोग इसलामके खलीफ़ा हुए, तब भारतकी खाड़ीमें हिन्दुओं और अरबोंके मेलके लिये और भी सुभीते हो गये। सफ़्फ़ाहके दो तीन वर्षोंके शासनके बाद अब्बासी वंशका दूसरा खलीफा सन् १३६ हिजरी-में बादशाह हुआ। सन् १४६ हिजरीमें बगदाद बसा और आठ वर्ष बाद हिन्द और अरबमें नियमित रूपसे विद्यासम्बन्ध स्थापित हुआ।

अरबोंमें हिजरी सन्‌की पहली ही शतीमें दूसरी भाषाओंके शास्त्रोंका

उल्था करनेका विचार हो चुका था। पर शाममें राजधानी रहनेके कारण वहां यूनानी और सुरयानी (सीरियन) भाषाओंका ही बोलबाला था। पर जब ईराकमें अब्बासी खिलाफतका तख्त बिछा, तब ईरानी और भारतीय भाषाओंको भी अपने जौहर दिखानेका अवसर मिला। जब खलीफा मन्सूरके विद्याप्रेमकी चर्चा फैली, तब सन् १५४ हिजरी (७७१ ईस्वी) में एक बहुत बड़ा पण्डित गणित और सिद्धान्तके ग्रन्थ तथा कुछ और पण्डितों-को साथ लेकर बगदाद पहुँचा और खलीफाकी आज्ञासे दरबारके एक गणितज्ञ इब्राहीम फ़िजारीकी सहायतासे उसने अरबीमें सिद्धान्तका अनुवाद किया। पहले पहल इसी समय अरबोंको भारतके गुणोंका ज्ञान हुआ। अनन्तर हारूँ रशीद खलीफाने अपनी चिकित्साके लिये भारतसे एक वैद्यको बुलवाया जिसने भारतकी विद्याकी धाक जमा दी। फिर तो बरमका लोगोंकी संरक्षतामें संस्कृतसे आयुर्वेद, गणित और फलित ज्यौतिष, साहित्य तथा नीतिग्रन्थोंका अनुवाद अरबीमें हुआ। भारतकी विद्याके लिये अरबोंमें कितना अधिक आदरभाव उत्पन्न हुआ था इस विषयमें मौलाना नदवीने तीन अरब लेखकोंके प्रमाण दिये हैं। इनमें पहला बसरेका निवासी जाहिज है जिसकी मृत्यु सन् २५५ हिजरीमें हुई थी। इसने लिखा है, 'हम देखते हैं कि भारतवासी ज्योतिष और गणितमें बहुत बढ़े हुए हैं और उनकी एक विशेष लिपि है। चिकित्साशास्त्रमें भी वे आगे हैं और वे इसके कई विल-क्षण भेद जानते हैं। उनके पास बड़े बड़े रोगोंकी विशेष औषधियाँ होती हैं। फिर मूर्तियाँ बनाने, रंगोंसे चित्र बनाने और भवननिर्माण कलामें वे बहुत चतुर हैं। शतरंजका खेल उन्हींका निकाला हुआ है जो बुद्धि और विचारका सबसे अच्छा खेल है। वे तलवारें बहुत अच्छी बनाते हैं और उनके चलानेके करतब जानते हैं। उनका संगीत भी बहुत मनोहर है। उनके एक साजका नाम 'कंकल:' है जो कद्दू पर एक तारको तान कर बनाते हैं और सितारके तारों और झांझका काम देता है। उनके यहाँ सब प्रकारका नाच भी है। उनके यहाँ अनेक प्रकारकी लिपियाँ हैं। कविताका भंडार भी है। दर्शन, साहित्य और नीति शास्त्र भी उनके पास हैं। उन्हींके यहाँ

से कलेला दमना (कर्कट और दमनक) नाम की किताब अर्थात् पंचतंत्रकी कहानी हमारे पास आयी है। उनमें विचार और वीरता भी है और कई ऐसे गुण हैं जो चीनियोंमें भी नहीं हैं। उनमें स्वच्छता और पवित्रताके भी गुण हैं। सुन्दरताई, सुघड़ाई, लुनाई और सुगन्धि भी है। उन्हींके देशसे बादशाहोंके पास वह ऊद (अगरकी लकड़ी) आती हैं जिसकी उपमा नहीं है। विचार और चितनकी विद्या भी उन्हींके पाससे आयी है। वे ऐसे मंत्र जानते हैं जिनके पढ़ देनेसे विष उतर जाता है। फिर गणित और ज्योतिष विद्याएँ भी उन्होंने निकाली हैं। उनकी स्त्रियोंको गाना और पुरुषोंको भोजन बनाना बहुत अच्छा आता है। सर्राफ़ और रुपये-पैसेके कारोबारी अपनी थैलियाँ और खज़ाना किसी औरको नहीं सौंपते। (ईराकमें) जितने सर्राफ़ हैं, सबके यहाँ ख़ज़ानची खास सिंधी होगा या किसी सिंधीका लड़का होगा, क्योंकि उनके यहाँ हिसाब-किताब रखने और सर्राफ़ीका काम करनेका स्वाभाविक गुण होता है। फिर ये लोग ईमानदार और स्वामिभक्त भी होते हैं।

दूसरे लेखकका नाम **याकूब्दी** बताया गया है, जो लेखक ही नहीं, यात्री और पंडित भी था। कहते हैं कि यह हिन्दुस्थान आया भी था। सन् २७८ हिजरीके लगभग इसका देहान्त हुआ था। बहुत कुछ कहकर इसने अन्तमें लिखा है कि हिन्दुस्तानके लोग बुद्धिमान और विचारशील हैं और इस दृष्टिसे वे सब जातियोंसे बढ़कर हैं। गणित और फलित ज्योतिषमें उनकी बातें सबसे अधिक ठीक निकलती हैं। सिद्धांत उन्हींकी विचारशीलताका परिणाम है, जिससे यूनानियों और ईरानियोंने लाभ उठाया है। चिकित्साशास्त्रमें उनका निर्णय सबसे आगे है। इस विद्यापर इनकी पुस्तक चरक और निदान हैं। चिकित्साशास्त्रकी उनकी और भी कई पुस्तकें हैं। तर्क और दर्शनमें भी उनके रचे ग्रन्थ हैं। तीसरा लेखक अबू ज़ैद सैराफ़ी है जो हिजरी तीसरी सदीके अन्तमें था। इसने लिखा है, 'भारतके विद्वान् ब्राह्मण कहलाते हैं। उनमें कवि भी हैं जो राजाओंके दरबारमें

रहते हैं और ज्योतिषी, दार्शनिक, शकुन उठानेवाले और इन्द्रजाल

जाननेवाले भी हैं। वे कनौजमें बहुत हैं जो जौज़के राज्यमें एक बड़ा नगर हैं।'

ऊपरके वर्णनसे संसारमें भारतीय सस्कृतिका क्या महत्व है यह स्पष्ट हो जाता हैं। मनुस्मृतिमें जब यह लिखा गया था कि '[१]इस देशमें जन्मे ब्राह्मणोंसे पृथ्वीमें सब मनुष्य अपने अपने धर्म सीखें' तब उसके लेखकको अवश्य ज्ञान होगा, कि संसारके लोगोंमें ज्ञान विज्ञानके प्रचारमें भारतीय विद्या और विद्वानोंने क्या काम किया था। पाश्चात्य जगत्में प्रसिद्धि ग्रीस वा यूनानकी अधिक हैं। पर ग्रीसको ज्ञान किसने दिया? पाश्चात्यों-के अनुसार उसका गुरु मिस्र या ईजिप्ट हैं। इसलिये पाश्चात्य मतानुसार मिस्र ही संस्कृतिका स्रोत हैं। परन्तु यह बात नहीं हैं। मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद मरहूमने अपने 'सखुनदाने फ़ारस'में लिखा हैं, 'देखो, हिन्दने या फ़ारसने अपने इल्मका सरमाया मिस्रको दिया। मिस्रने दोनोंसे लेकर यूनानको दिया। यूनानने रूमियाको दिया। रूमिया, यूनान व फ़ारसने अरबको दिया और फिर अरबसे तमाम यूरोप और एशियामें फैला। मौलाना आज़ाद इसका निश्चय नहीं कर सके कि हिन्दने अपने इल्मका सरमाया मिस्रको दिया या फारसने। परन्तु अरबको तो भारतने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूपसे ज्ञान दिया, जिसे मौलाना नदवीने स्वीकार किया है। संस्कृत और फारसीमें अथवा वेदभाषा और ज़ेन्दमें जो निकटता है, उससे भारत और ईरानकी घनिष्टता स्वयंसिद्ध हैं। ईरानको आर्यावर्त्तका ही एक भाग समझना चाहिये।

मद्रासके समुद्र-तटपर ट्रावनकोर राज्य तथा कालीकटके सामुरिया-जमोरिनके राज्यमें अरब व्यापारी आते और निर्भय होकर रहते और व्यापार करते थे। हिन्दू राजाओंका उनके साथ बहुत शिष्ट व्यवहार था। परन्तु इस्लामके अभ्युत्थानके बादसे अरबोंमें लड़ाकी वृत्ति काम करने लगी थी।

---

१. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अरबोंकी इच्छा भारतपर चढ़ाई करनेकी हुई, परन्तु बहुत दिनोंतक उन्हें कोई बहाना न मिलनेसे चुपचाप मन मसोस कर रह जाना पड़ा। अन्तको एक बहाना मिल ही गया। दक्षिण भारतसे कुछ अरब स्त्रियाँ जा रही थीं। इन्हें सिन्धके पास जल-दस्युओंने लूट लिया। उस समय इसलामके खलीफा शामकी राजधानी दिमिश्कमें रहते थे। खलीफाने सिन्धके राजा दाहिरको इस कृत्यका उत्तरदाता ठहरा कर सिन्धपर चढ़ाई करनेका हुक्म अपने सरदार मुहम्मद बिन क़ासिमको दे दिया। इसने देवल बन्दरपर ७१२ ईस्वीमें चढ़ाई कर उसे लूट लिया और लोगोंको कत्ल किया। लड़ाईमें सिन्धका राजा दाहिर भी मारा गया। दाहिरका लड़का मैदानसे भाग गया, पर उसकी रानीने अच्छी तरह मोर्चा लिया। अन्तमें लड़ती-लड़ती वह भी मर गयी। सिन्धपर अरबोंका अधिकार हो गया, परन्तु सिन्धमें मुसलमानोंकी संख्या बहुत अधिक हो जाने और सिन्धी भाषाकी लिपि अरबी बन जानेके सिवा सिन्धपर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा।

ईरान या फारसमें भी आर्य पण्डित जाया करते थे। शाह गस्तास्पके समय यहाँसे व्यासजी गये थे और इनसे मिलनेको शाहने वहाँके विद्वान् दार्शनिक ज़रतुस्त (ज़ोरोऐस्टर) को बुलाया था। उस समयके बाद ईरानमें सैकड़ों वर्षोंपर फिर एक हिन्दू रवीन्द्रनाथ ठाकुर निमन्त्रित किया गया। सरकार और प्रजा द्वारा उसका आदर सत्कार हुआ। यद्यपि भारतपर ईरानियोंका राज्य कभी नहीं हुआ, तथापि ईरानी संस्कृति और भाषाका राज्य अवश्य ही यहाँ सैकड़ों वर्षों रहा और किन्हीं बातोंमें तो आज भी है। ईरानियोंके दो आक्रमण मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनोंमें हिन्दुस्थानपर हुए थे। परन्तु नादिरशाहका आक्रमण उसकी क्रूरता और राक्षसी वृत्तिके कारण ही प्रसिद्ध है और अहमदशाह दुर्रानी मराठोंको पानीपतमें हराकर भी भारतपर अपनी विजय दृढ़ न कर सका। और तो क्या, भारतपर यह पश्चिमी आक्रमणकारियोंका अन्तिम आक्रमण था।

जिन मुसलमानोंने भारतको पादाक्रान्त कर सैकड़ों वर्षोंतक राज्य

किया, वे अरब या ईरानी न थे। उनमें तुर्क, पठान, मुग़ल आदि थे। संसार-के बहुत बड़े भाग विशेषकर एशियामें बौद्ध मत बहुत फैला हुआ था। मंगोलियाकी जिस मंगोल जातिका बहुत समयतक चीनपर शासन रहा और आगे चलकर जो भारतमें आकर मुग़ल कहलायी, वह बौद्ध मतकी ही अनुगत थी। ख़ुरासानके बल्ख़ शहरके नवविहारकी चर्चा हो ही चुकी है। हिन्दुस्थानपर सबसे पहले जिन तुर्कोंने अफगानिस्तानके रास्तेसे चढ़ाई की थी, हमारी भाषापर वे अपना कोई प्रभाव नहीं छोड़ गये थे। अवश्य ही कुछ तुर्की शब्द ही हमारी भाषामें आ मिले और आश्चर्य नहीं कि इन तुर्कोंके कारण ही हमारी भाषामें मुसलमानोंके लिये तुर्क या तुरुक शब्दका प्रयोग होने लगा हो।[1] पर ऐसे शब्द और भाषाओंमें भी हैं।

सन् ९७७ ईस्वीमें तुर्क अलप्तगीनके गुलाम सुबुक्तगीनने ग़ज़नीपर अधिकार जमाया और अपनेको अमीर प्रसिद्ध किया। यह बड़ा उच्चाकांक्षी था। इससे इसने सन् ९८६में पंजाबपर धावा बोल दिया। बादको इसके बेटे महमूदने भारतपर सत्रह बार चढ़ाइयाँ कीं और देशको अच्छी तरह लूट-पाटकर लोगोंके साथ अत्यन्त क्रूरताका व्यवहार किया। इन आक्रमणों-में बड़ा विद्वान् मुहमद-बिन-अलबेरूनी भी साथ था, जिसने स्वयं भारत और भारतवासियोंका ज्ञान प्राप्त किया; उनकी भाषा और संस्कृतिका अध्ययन और मनन किया और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "किताब-उल-हिन्दमें" हिन्दू जीवन और साहित्यके विविध रूपोंकी अधिकारपूर्वक चर्चा की। ये पुराने आक्रमणकारी जो भाषा बोलते थे वह निस्सन्देह तुर्की थी, पर ये फारसीके पैरोकार थे और शायद इसी भाषामें शासन-कार्य चलाते

---

१. "हिन्दू तुर्कन भई लराई।" (पद्मावत) "हिन्दू तुरुक दीन द्वै गाये" (छत्रप्रकाश) "हिन्दुहिं मधुर न देंहि कटुक तुर्कहिं न पियार्दहिं" (नरहरि कवि)।

थे। जान पड़ता है कि महमूदकी तारीफमें मशहूर शाइर फ़िर्दोसीने "शाहनामा" नामक जो काव्य रचा था, वह इसी कारण फ़ारसीमें था। इसका कारण यह जान पड़ता है कि ईरानका साम्राज्य बड़े विस्तृत भूभागपर था और मध्य एशियातक फैला था। इस साम्राज्यकी भाषा फ़ारसी थी।

जब किसी देशमें दो संस्कृतियोंका संघर्ष होता है, तब एकके रीति-रिवाज, चालढाल, रहनसहन, संगीत, साहित्य, कला, वेष-भूषा आदिका प्रभाव दूसरेपर पड़े बिना नहीं रहता। साधारणतः पराजित और शासित ही अपनेको हीन और शासकोंको श्रेष्ठ समझकर शासक जातिके समकक्ष बननेके अभिप्रायसे प्रत्येक बातमें उसका अनुकरण करते हैं। परन्तु ऐसा भी कभी कभी देखा गया है कि शासकोंने भी शासितोंकी नकल कई बातोंमें की है। इस देशमें आर्य और अनार्य संस्कृतियोंकी मोर्चेबन्दीके बाद जब आर्य संस्कृतिने अनार्य संस्कृतियोंपर विजय पायी, तब स्वभावतः अनार्योंने आर्य संस्कृति स्वीकार कर ली और बड़े बननेकी इच्छासे अनार्योंके बहुजन-समाजकी प्रवृत्ति आर्य रीति-नीतिकी ओर हुई। परन्तु कालान्तरमें जब आर्य लोग अपनी प्रभुता स्थापित हो जानेके कारण निश्चिन्त हो गये, तब अनार्यों द्वारा अनार्य भाव धीरे-धीरे आर्य जनतामें प्रवेश करने लगा। अथवा यह भी सम्भव है कि अनार्योंका परतंत्रताका बोझ कुछ हल्का करनेकी नीयत से आर्य लोगोंने स्वतः अनार्योंकी कितनी ही बातें मान ली हों, जिसमें दोनो नीर-क्षीरकी तरह मिल जायँ।

यह प्रसिद्ध है कि वैदिक आर्योंमें जातपाँतका बखेड़ा और मन्दिर-मूर्त्तियोंका प्रचार न था। उनमें चातुर्वर्ण्य व्यवस्था थी और वे इन्द्र, चन्द्र, वरुण, सविता आदि देवताओंकी यज्ञोंद्वारा उपासना किया करते थे। परन्तु अनार्योंके संसर्गसे उनमें देव-मन्दिर और मूर्त्तियाँ आयीं और चार वर्णोंके बदले सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बन गयीं। अनार्योंमें बहुत-सी जातियाँ थीं, इसलिये अनार्योंसे आर्योंमें जाति-संस्थाका आना आश्चर्य जनक नहीं है। यह केवल कल्पना नहीं है। मनुस्मृतिमें आठ प्रकारके जो

विवाह माने गये हैं, उनमें आसुर और राक्षस विवाहोंका अस्तित्व यही सिद्ध करता है ।[1]

परन्तु बहुधा पराजित और शासित ही विजेताओं और शासकोंकी संस्कृति अपनाते आये हैं, क्योंकि ये अपनेको हीन और उन्हें श्रेष्ठ समझते हैं। इसलिये बहुतसे अनार्य आर्य बन गये। मुसलमानी अमलदारीमें भी कितने ही हिन्दू मुसलमान बन गये और जो मुसलमान नहीं हुए, वे ऊपर-से पोशाक आदिमें मुसलमान बननेमें लाभ समझने लगे । जैसे अंगरेजी पोशाक पहनकर लोग ऐसी बहुतसी जगहोंमें चले जाते थे और ऐसे स्थानोंपर बैठ सकते थे, जहाँ देशी पहनावेकी गुजर नहीं थी, वैसे ही मुसलमानी अमलदारीमें भी लोग मुसलमानोंकी नकल इस चतुराईसे करते थे कि कहीं भेद न खुल जाय। इसलिये कोई कोई तो अपनी माँसे पूछ भी लिया करते थे कि "अम्माँ! मैं हिन्दू तो नहीं जान पड़ता ?" लखनऊमें नवाबी अमलदारीमें मुहर्रमके दिनोंमें कोई आदमी हरे रंगके कपड़े पहने बिना बड़े इमामबाड़ेमें नहीं जा सकता था और बुजुर्गोंसे सुना गया है कि वहाँ जानेके लिये वे अपनी मिर्जई और टोपी हरी रंग लिया करते थे।

शिहाबुद्दीन मुहम्मद ग़ोरी, क़ुतुबुद्दीन ऐबक नामक अपने गुलामको अपने अधीन भारतका शासक बनाकर चला गया था। यही पहला मुसलमान बादशाह हुआ। यह तथा और भी मुसलमान आक्रमणकारी अफ़ग़ानिस्तान-से ही हिन्दुस्थान आये थे। इन सबकी भाषा तो तुर्की थी, पर ये फारसी बोलते और उसीमें अपना सब व्यवहार चलाते थे। इस प्रकार हिन्दुस्थान-के बादशाहों और नवाबोंकी भाषा फारसी होनेके कारण हमारी भाषा हिन्दीपर फारसीका ही प्रभाव विशेष पड़ा, जिसका हमें इस पुस्तकमें विचार करना है। यह दूसरी बात है कि फारसीपर अरबीका काफी असर हो चुका था।

---

१. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः ॥२१॥

हिन्दीपर फ़ारसीका प्रभाव

संस्कृत और फ़ारसी

इस देशकी प्राचीन भाषा साधारण लोगोंमें संस्कृत नामसे प्रसिद्ध है। आधुनिक भाषाओंकी तुलनामें वह प्राचीन अवश्य है, तथापि उससे प्राचीनतर एक भाषा थी, जो वैदिक भाषा या वेद-भाषा कहाती है। इसी प्रकार वर्त्तमान फ़ारसीसे भी प्राचीनतर भाषा पहलवी नामसे प्रख्यात थी। पर इससे भी प्राचीनतर भाषाको विद्वानोंने "ज़ेन्द"[1] नाम दिया है, जो पारसियोंके धर्म-ग्रन्थ अवस्ताकी भाषा है। वेदभाषा और ज़ेन्दभाषामें बहुत अधिक साम्य है और ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनो सगी बहनेंसी हैं। इसलिये इनकी भी किसी माताका अनुमान आप ही आप होने लगता है। ज़ेन्दकी वर्णमाला संस्कृतसी ही है और उसमें १३ स्वर हैं।

---

१. किसी किसीका मत है कि "ज़ेन्द" छन्द शब्दका अपभ्रष्ट रूप है ओर चूंकि पुरुषसूक्तादिमें अथर्ववेदको "छन्दांसि" कहा है, इसलिये जेन्द वैदिक भाषाका ही नामान्तर है। परन्तु प्राचीन कालमें वैदिक-भाषाको छन्द ओर लोक-भाषाको संस्कृत भाषा कहते थे।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

--पुरुषसूक्त

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषासह।

--अथर्व० ११।७।२४

फ़ारसका पुराना नाम ईरान है। यहाँ पहले ज़रतुश्त या ज़ोरोएेस्टर-का धर्म प्रचलित था। परन्तु जब अरबोंने ईरानपर चढ़ाई की और ईरानियों-को हराकर अपना दीने इस्लाम स्वीकार करनेके लिये बाध्य किया, तब जिन्हें कोई और उपाय न सूझा वे मुसलमान बन गये। परन्तु जिन्हें अपने पुराने धर्मसे प्रेम था, उन्होंने घरबार छोड़ और सम्मान-सम्पत्तिसे मुँह मोड़ गुजरातके एक हिन्दू नरेशकी शरण ली, जिसने उन्हें नवसारी और उसके आसपास रहनेकी अनुमति दे दी। जो ईरानी ईरानमें रह गये और जिन्होंने अपने प्राणों और सम्पत्तिकी रक्षा करना उचित समझा, वे मुसलमान हो गये। जो हिन्दुस्थान चले आये, वे पारस देशसे आनेके कारण पारसी कहलाने लगे। फ़ारसको पारस भी कहते हैं, इसलिये अब तक उस देशसे इनका सम्बन्ध लगा हुआ है। चूँकि पारसी और आर्य अपने अपने ढंगके अग्निपूजक हैं, इससे वैदिक आर्योंसे इनका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। गुजरात में रहनेके कारण इन्होंने गुजरातियोंकी भाषा, पहनावा और अल्लें वा उपाधियाँतक अपना ली हैं यथा शाह, पारख, मेहता, शेठ इत्यादि। इनकी पकड़ी गुजराती पगड़ी ही होती थी। अब लोग एक तरहकी फ़ेल्ट पगड़ी पहनने लगे हैं, पर पुराने लोग गुजराती पगड़ी ही पहनते थे। दादाभाई नवरोज़ी, सर फ़ीरोज़शाह मेहता, सर दीनशाह वाचा, सर जीवनजी मोदी प्रभृति पारसी सज्जनोंके सिरों पर गुजराती पगड़ी विराजमान थी। पूर्व पुरुषोंकी जन्मभूमिसे प्रेमके कारण कुछ लोग फ़ारसी पढ़ते भी हैं। इनकी भाषामें फ़ारसी शब्द अधिक होते हैं।

पहलवी भाषा पुरानी ईरानी या फ़ारसीको कहते हैं; परन्तु वास्तवमें यह पश्चिमी ईरानकी भाषा ३री ईस्वी शताब्दीमें थी। पहलव देश पश्चिमी ईरान ही है। वर्त्तमान शाहे ईरान भी पहलवी ही हैं। पहलवीसे वर्त्तमान साहित्यिक और बोलचालकी फ़ारसी भाषाकी उत्पत्ति मानी जाती है। परन्तु फ़ारसी शाइरोंने कभी-कभी फ़ारसीके लिये भी पहलवी शब्दका प्रयोग किया है। सुप्रसिद्ध मौलाना जामी कहते हैं:—

मौलवीए मस्नवीए मानवी ।
हस्त क़ुरआँ दरज़ुबाने पहलवी ।।
मन चि गोयम् वस्फ़ आँ आली जनाब ।
नेस्त पैग़म्बर बले दारद कि ताब ।।

अर्थात्––मौलाना रूमकी जो मसनवी है, वह फारसी भाषामें क़ुरान है। मैं आली जनाबकी क्या तारीफ़ करूँ ? वे पैग़म्बर न थे, पर पैग़म्बर जैसी ताक़त रखते थे।

पहलव लोगोंकी चर्चा मनुस्मृतिने व्रात्य क्षत्रियोंमें की है। दसवें अध्यायमें ये दो श्लोक हैं :––

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्त्वं गता लोके ब्राह्मणाऽर्शनेन च ।।४३।।
पौंड्रकाश्चौड्रद्रविड़ाः काम्बोजयवनाः शकाः
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः ।।४४।।

अर्थात्––पौंड्र, ओड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पहलव, चीन, किरात, दरद और ख़श––ये क्षत्रिय जातियाँ क्रियाके लोप करने और ब्राह्मणोंके अदर्शनके कारण वृषलत्वको प्राप्त हुईं। इससे पह्लव व्रात्य क्षत्रिय ठहरते हैं। भारतके व्रात्य क्षत्रियोंने प्राकृत भाषा और विशेषतः उसके संस्कृत रूप पालीकी बड़ी उन्नति की है।

मौलाना मुहम्मद हुसेन आज़ादने "सख़ुनदाने फ़ारस" में यह सुझाया है कि पह्लव यहाँसे किसी प्रकारकी प्राकृत ईरान अपने साथ ले गये होंगे जो आज पहलवी कहाती है। ईरानका दक्षिण-पश्चिम प्रदेश फ़ारस कहलाता था और समग्र देशपर इसका प्रभुत्व होनेके कारण ईरान फ़ारस और ईरानकी भाषा फ़ारसी कहलाने लगी।

अरबी और फ़ारसी

फ़ारसी संस्कृतसे मिलती-जुलती है, इसलिये भाषाओंके वर्गीकरणमें वह आर्य भाषा मानी जाती है। परन्तु उसपर अरबीका बड़ा प्रभाव है,

क्योंकि अरबोंने ईरानको पादाक्रान्त करके ईरानियोंको मुसलमान बनाया था और अपनी लिपि उन्हें दी थी। इसके पहले ईरानी लोग कौनसी लिपि काममें लाते थे यह तो हम नहीं जानते। परन्तु कहते हैं कि पहलवी एक प्रकारकी शेमिटिक लिपिमें लिखी जाती थी, इसीलिये फारसीके लिये अरबी लिपिका सुधरा रूप स्वीकार करनेमें ईरानियोंको कोई आगापीछा नहीं हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं है।

जैसे संस्कृत, फ़ारसी आदि आर्य भाषाएँ हैं, वैसे ही अरबी, हिब्रू (इब्रानी), असीरियन (आसुरी), फिनिशियन (पणि), हब्शी आदि भाषाएँ शेमेटिक कहलाती हैं। शाम सीरियाका पुराना नाम है, इसलिये वहाँके लोग शेमाइट और वहाँसे सम्बन्ध रखनेवाली भाषा शेमेटिक कहाती है अथवा शेमिटिक जातिके आदि पुरुष शेमके नामपर असुर, यहूदी, पणि, अरब और हब्शी आदि शेमिटिक कहाते हैं यह विचारणीय है। पर जातिकी व्यापकताकी दृष्टिसे दूसरा कारण ही समीचीन जान पड़ता है। इनमें अरबी और यहूदियोंकी भाषा इब्रानीका फारसीपर बड़ा प्रभाव पड़ा है। और तो क्या इस प्रभावके कारण ही भीतरसे आर्य भाषा होनेपर भी आज फ़ारसी देखनेमें अनार्य अथवा शेमिटिक भाषा जान पड़ती है। जैसे किसी हिन्दू को झब्बेदार यूनानी फ़ेज़ टोपी (जो भ्रमवश तुर्की कहलाती है) पहने देखकर लोग मुसलमान समझ लेते हैं, वैसे ही फारसीको अरबी लिबासमें देख अल्पज्ञ लोग शेमेटिक मान बैठते हैं।[1] परन्तु फ़ारसी

---

१. कई वर्ष हुए श्रीमती सरोजिनी नायडूके लड़केको इसी तरहकी टोपी पहने देखकर समाचार-पत्रोंने छाप दिया था कि वह मुसलमान हो गया। परन्तु हैदराबादमें हिन्दू भी ऐसी टोपी पहनते हैं और स्वर्गीय विट्ठल भाई पटेल भी पहले पहना करते थे। १९१८ में सय्यद हसन इमामकी अध्यक्षतामें बम्बईमें जो स्पेशल कांग्रेस हुई थी, विट्ठलभाई उसके स्वागताध्यक्ष थे। उन दिनों वे फेज ही पहनते थे और लम्बी दाढ़ी भी थी, इससे पक्के मुसलमान जान पड़ते थे।

शेमेटिक भाषा नहीं है और अरबी, इब्रानी, तूरानी, तुर्की, तातारी आदि अनेक भाषाओं के शब्द उसमें मिलनेपर भी उसका हृदय आज भी आर्य बना हुआ है।

संस्कृत और फारसी शब्द-साम्य

जेन्द और वेद-भाषामें ही साम्य नहीं है, वर्त्तमान फ़ारसीसे संस्कृतका भी है, जैसा नीचेके शब्दोंके मिलानसे जाना जायगा :—

संस्कृत	फ़ारसी	संस्कृत	फ़ारसी
पितृ, पितर्	पिदर	महत्तर	मिहत्तर
मातृ, मातर्	मादर	अस्ति	अस्त
भ्रातृ, भ्रातर्	बिरादर	गो	गाव
दुहितृ, दुहितर्	दुख़्तर	आप	आब
स्वसृ	ख़्वाहिर	अभ्र	अब्र
तनु	तन	पुष्ट	पुख़्तः
श्वशुर	ख़ुसुर	अश्व	अस्प
पृष्ठ	पुश्त	शर्करा	शकर
नप्तृ	नबीर	जीरक	ज़ीरा
हस्त	दस्त	वर्षा	बारिश
बाहु	बाज़ू	जामातृ, जामाता	दामाद
पाद्	पा, पाव	तृष्णा	तिश्ना
गोधूम	गन्दुम	द्वार	दर
शाली	साली	शरत्	सर्द
तारा	तारा	उष्ट्र	उस्तुर, शुतुर
पञ्च	पञ्ज	वात	बाद
चत्वार	चहार	भ्रू	अब्रू
षट्, षष्	शश	चर्म	चरम

संस्कृत	फ़ारसी	संस्कृत	फ़ारसी
सप्त	हफ़्त	सायं	शाम
अष्ट	हश्त	वर्षार्तु	बरसात
नव	नौ	क्षीर	शीर
दश	दह	मेघ	मेग़
शत	सद	मर्दति	मसद
घर्म	गर्म	अलक्षित	लेसद
हर्म	हरम	मृत	मुर्दा
चक्षु	चश्म	शक्त	सख्त
चक्र	चर्ख	कुक्षि	किश
क्षपा	शब	प्रमाण	फ़र्मान
अहिफेन	अफयून	प्रसाद	फ़रशाद
सर्षप	सरशुफ	जलौका	ज़लूक
आपत्	आफ़त	दन्त	दन्द, दन्दाँ
कर्पूर	काफूर	केशसू	गेसू
मुष्टि	मुश्त	सूर, सूर्य	हूर, ख़ूर
शृगाल	शग़ाल	अस्ति	हस्त
भूत	बूद	अददम्	दादम
पतति	फ़तद	स्तौति	सतायद
बध्नाति	वन्दद	वात	बाद
भवामि	बूदम	भवति	बुवद
जायते	ज़ायद	आयाति	आयद
पचति	पज़द	जीवति	ज़ीद
सरति	रसद	तपति	तबद
करोति	कुनद	धावति, दावति	दावद
गदति	गोयद	क्रीत	खरीद
तनोति	तनद	सृजति	सरेशद

श्रृणोति	शिनूद	ददाति	दिहद
दत्त	दिहद	अश्ववार	सवार

जैसे संस्कृतसे प्राकृत शब्द बनानेके नियम प्राकृत व्याकरणोंमें लिखे हुए हैं, वैसे ही विद्वानोंने संस्कृत शब्दको फारसी रूप देनेके नियम भी रचे हैं। एक नियम है कि संस्कृत शब्दके आकारका लोप कर देनेसे फारसी शब्द बन जाता है :—

जैसे,

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
विस्तार	बिस्तर[1]	बिछौना
त्रास	त्रस	डर
महा	मह	बुज़ुर्ग
जलौका	ज़लूक, ज़लू	जोंक
शाखा	शाख	डाल

कई प्राकृत नियमोंसे भी संस्कृतसे फ़ारसी शब्द बनते हैं। नीचेके शब्दोंमें ह्रस्व स्वर दीर्घ हो गया है; जैसे

संस्कृत	फारसी	अर्थ
प्र	पार	गत
पुत्र	पूर	बेटा
कर्पूर	काफ़ूर	कपूर

प्राकृतके 'पो वः' सूत्रकी झलक इन शब्दोंमें दिखायी देती है :—

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
क्षपा	शब	रात
कपोतः	कबूतर	

---

१. बिस्तरका बिष्टर शब्दसे बनना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

संस्कृत	फारसी	अर्थ
कर्पास	करपास	कपास
अप, आप	आब	पानी
तपस, तपस्या	तबास	तपस्या

'स' प्राकृतमें 'ह' हो जाता है। पर हिन्दीमें कभी फारसीका 'ह' 'स' हो जाता है, जैसे मेहतर मेस्तर। यह शब्द पूर्वके अपढ़ लोगोंका गढ़ा है।

'पो वः' के बदले 'वो पः' सूत्रका प्रयोग भी फारसीमें देखा जाता है; जैसे, संस्कृत अश्व फारसीमें अस्प हो गया हैं। फारसीके जो शब्द प या फ से आरम्भ होते हैं, वे फ या प से बहुधा बदले जाते हैं; जैसे, पारस फ़ारस, पील फ़ील।

संस्कृत शब्द का प फारसी में ब हो जाता; जैसे 'वप्र' से जेन्दमें बाप और फारसीमें बाव बना और प्यारका प्रत्यय आ लगाकर बाबा शब्द बना लिया गया।

प्राकृत प्रकाशके 'कगचपयवां प्रायो लोपः' सूत्रके अनुसार 'प' का लोप भी हो जाता है; जैसे संस्कृत वापी फारसीमें वाई बन गया जिसका अर्थ बावली होता हैं।

संस्कृत शब्द का अंश ष्ट फारसीमें सदा श्त हो जाता हैं; जैसे,

संस्कृत	फारसी	अर्थ
अङ्गुष्ट	अंगुश्त	उंगली
उष्ट्र	उशतर, शुतर	ऊँट
मुष्टि	मुश्त	मूठ
दुष्ट	दुस्त	दुष्ट
सृष्टि	सरश्त	संसार

संस्कृतका अंगुष्ट शब्द तो अंगूठेका वाचक है, परन्तु फारसीमें अरबोंकी कृपासे उंगलियोंके नामोंका लोप हो अंगूठे तथा उंगलियों सबके लिये एक मात्र शब्द अंगुश्त रह गया; जैसे, 'खुदा पंज अंगुश्त यकसां न कर्द।'

कितने ही और शब्द भी हैं, जिनके अर्थोंमें संस्कृतसे फ़ारसीमें भिन्नता आ गयी है। जैसे, मेघ बादल है, पर फारसी मेह वर्षा है।

फारसीका ख़े अक्षर संस्कृतके क, ख, श और ह अक्षरोंसे बदला जाता है; जैसे,

संस्कृत	फारसी	अर्थ
कुशा	ख़ासा, ख़ाशा	घास
खर	ख़र	गधा
स्वसृ	ख्वाहिर	बहन
सु	ख़ुश	अच्छा
स्वतः	ख़ुद	आप
स्वद	ख्वे	पसीना
शुभ	ख़ूब	अच्छा
शूकर	ख़ूक	सुअर
शोण शोणित	ख़ून	रक्त
श्वशुर	ख़ुसुर	ससुर
स्वप्न	ख्वाब	सपना
सूर	ख़ूर, हूर	सूरज
चक्र	चर्ख़	पहिया
शक्त	सख़्त	कड़ा
कुम्भ	ख़ुम, ख़ुम्ब	घड़ा
खस	ख़श	ख़श
स्वधा	ख़ुदा	
दुहितर्	दुख़्तर	बेटी
आह्वान	ख्वान, ख्वान्दन	पुकार
आहूत	ख्वाहिद	बुलाया गया
क्रम	ख़राम	रफ़्तार-नाज़

काफ, हे, सीन, शीनका खेमें परिवर्तन संस्कृत शब्दोंमें ही नहीं, फारसी शब्दोंमें भी होता है; जैसे,

संस्कृत	फारसी	
शिनाख़्त	शिनासद	
अफ़राख़्तन	फ़राशीदन	(रोंगटे खड़े होना)
ख़मान	कमान	
ख़नन्द	कमन्द	
खाका	हाग	(अंडा)

संस्कृत तकारवाले शब्द प्राकृतमें ही दकारान्त नहीं हो जाते, फारसीमें भी हो जाते हैं; जैसे---

संस्कृत	फारसी	
जात	ज़ाद	
अत्र	ईदर	
वाताम	बादाम	
वात	बाद	
वितस्ति	बदस्त	(बालिश्त)
मातृ, मातर्	मादर	
मृत	मुर्दा	
वेत्र, वेत	बेद	
पितृ, पितर्	पिदर	
दन्त,	दन्द	
शरत्	सर्द	
शत	सद	
जामातृ, जामाता	दामाद	
व्यूति	पूद	(बाना बुनना)

कई संस्कृत शव्दोंका द हिन्दी में ज हो जाता है, जैसे वैद्यनाथ बैजनाथ, गदाधर गजाधर इत्यादि । इसी प्रकार संस्कृतका अजगर फारसी-में अज़दर हो जाता है।

यह विषय बड़ा भारी है, इसलिये इतनेहीसे समाप्त किया जाता है ।

सीमान्त देशोंकी भाषाएँ

यों तो अफ़ग़ानिस्तान और भारतके बीचके भूभागकी ही नहीं, खास अफ़गानिस्तानकी भाषा पश्तो या पख्तो और इसीसे मिलती-जुलती भाषाएँ हैं। परन्तु अफ़ग़ानिस्तानके रईसों और प्रतिष्ठित पुरुषोंकी भाषा फ़ारसी ही है। पश्तो अफ़ग़ानोंकी और बिलोची बिलोचियोंकी बोली है। इसी तरह चित्राल, काफ़िरस्तान, आदिकी बोलियाँ कुछ कुछ भिन्न हैं। परन्तु इन सभी भाषाओं वा बोलियोंका उद्गम पुरानी संस्कृत-फ़ारसीसे वैसे ही हुआ है, जैसे आधुनिक आर्य भाषाएँ संस्कृतसे निकली हैं। भाषाओंके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि अरबी तो इल्म (शास्त्र) वा विज्ञानकी भाषा है और तुर्की शूरताकी है तथा फ़ारसी शीरीं जुबान (मधुर भाषा) है। परन्तु पश्तोके विषयमें लोगोंका वही भाव है, जो तमिलके विषयमें उत्तर भारतके निवासियोंका है अर्थात् किसी हाँड़ीमें कंकड़ भरकर बजानेसे जो समझ पड़ता है, वही पश्तो सुननेसे जान पड़ता है। इसमें तमिल वा पश्तोका दोष नहीं है। यह उसके न जाननेका कारण है।

१—हिन्दी और प्राकृत

भारत वा भारतवर्ष का दूसरा नाम हिन्द है और इसीसे हमारे पड़ोसी ईरानी और अरब हमें जानते पहचानते आते हैं। सिन्धु वा सिन्धका ही रूप हिन्द है। जैसे प्राकृतमें स ह हो जाता है, वैसे ही फारसीमें भी होता है। अरब लोग व्यापार आदिके लिये सिन्ध आते थे, इसलिये उन्होंने सिन्धको हिन्द कहा और फिर सारा देश अरबों तथा अन्य विदेशियोंके लिये हिन्द हो गया। इसलिये जब मुसलमान यहाँ आये, तब स्वभावतः उन्होंने भारत वा हिन्दकी भाषाको हिन्दवी या हिन्दी कहा। इस देशपर मुसलमानों-का शासन आरम्भ होनेके समय प्राकृत भाषाओंका युग बीता और हिन्दवी

या हिन्दीका आरम्भ हो चला था। परन्तु मुसलमानोंको यह हिन्दवी या हिन्दी कई रूपोंमें दिखायी दे रही थी, जो प्राकृत भाषाओंसे उत्पन्न हुए थे। प्राचीनतम प्राकृतका नाम "आर्ष" है और सिद्ध हेमचन्द्र सूरिने अपनी "प्राकृताष्टाध्यायी" में इसे "ऋषीणामिदम्" (ऋषियोंकी भाषा) बताया है। आर्षका दूसरा नाम "ऋषिभाषिता" भी है। यह आर्ष वैदिक भाषा के साथ साथ उत्पन्न जान पड़ती है। कालान्तरमें कई प्राकृतें उत्पन्न हुईं, जो शौरसेनी, मागधी और पैशाची आदि कहलायीं। अपभ्रंश नामकी भी एक प्राकृत थी, जो आर्षकी भांति सामान्य भाषा थी। कुछ कालके उपरान्त यह सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री अथवा प्राकृत कहाने लगी। वररुचिने अपने प्राकृतप्रकाशमें इस सामान्य भाषाको प्राकृत वा महाराष्ट्री ही कहा भी है। कुछ समयके उपरान्त एक मिश्र भाषा पैदा हुई, जो अर्द्धमागधी कहलायी; क्योंकि शौरसेनी और मागधीके योगसे जन्मी थी। यही महाराष्ट्रीके बदले सामान्य भाषा बनी। इन प्राकृतोंके अनन्तर बोलियोंका युग आया, जो भाषा कहलायीं। यह भाषा नाम बहुत कालतक हिन्दी कविताकी भाषाके लिये प्रयुक्त होता था। इसी भाषामें सूर, तुलसी, केशवके ही ग्रन्थ नहीं, जायसीतकके ग्रन्थ पाये जाते हैं। जायसीने पद्मावतमें हिन्दी वा हिन्दुईके साथ ही भाषा शब्दका भी प्रयोग किया है। जैसे,

"आदि अन्त जस गाथा अही। कह चौपाई भाषा कही।"

और

"तुर्की, अरबी हिन्दवी भाषा जेती आहिं।
जामें मारग प्रेमका सबै सराहैं ताहिं।"

तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें तो "भाषा" शब्दका ही व्यवहार किया है, यथा,

"भाषा निबन्ध मुदमंजुलमातनोति।"
"भाषा भनित मोरि मति थोरी। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।।"

परन्तु कहते हैं कि एक फ़ारसी पंचनामेमें उन्होंने हिन्दवी शब्दका

भी प्रयोग किया है। केशवदासजीने भी अपनी कविताकी भाषाको भाषा ही कहा है, जैसे :—

भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुलके दास।
भाषा कवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास।।
उपज्यो तेहि कुल मन्दमति, सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्रकी चन्द्रिका, भाषा करी प्रकास।।

इससे स्पष्ट होता है कि जिस भाषामें हमारे कवीश्वर कविता रचते थे अथवा संस्कृत ग्रंथोंका उल्था करते थे, वह तो भाषा कहाती थी और जिसका प्रयोग बोलचाल और साधारण लिखा-पढ़ी तथा मुसलमानों और हिन्दुओंके भावों और अभिप्रायोंके विनिमयके लिये होता था, उसका नाम हिन्दी वा हिन्दवी था। परन्तु जब मुसलमानोंको इस हिन्दी या हिन्दवीके अनेक रूपोंका ज्ञान हुआ, तब इनमें जो सबसे पुष्ट और परिमार्जित रूप था, उसे उन्होंने रेख़्ता नाम दिया। रेख़्ता पुष्ट या पक्की भाषा है। समय पाकर यही हिन्दुओं में नागरी या नगरकी भाषा वा खड़ी अथवा खरी बोली कहाने लगी। खरीका अर्थ हैं टकसाली, खोटी नहीं।

हम पहले देख चुके हैं कि वर्त्तमान बोलियोंकी उत्पत्तिके पहले कई प्राकृतें प्रयुक्त होती थीं और इनमें सबसे अधिक मार्केकी आर्ष वा महाराष्ट्री वा अर्द्ध-मागधी तथा शौरसेनी, मागधी और पैशाची थीं। हम पहले जान चुके हैं कि इनमें आर्ष प्राचीनतम है। वर्त्तमान संस्कृत साहित्यमें हमें बहुतसे आर्ष प्रयोग मिलते हैं, जो पाणिनिके साधारण सूत्रोंसे सिद्ध नहीं होते और ये ही आर्ष प्राकृतके आधार प्रतीत होते हैं। अब कालान्तरमें आर्षके स्थान पर "महाराष्ट्री" आयी। इसके सिवा कुछ मिश्रित भाषाएँ थीं, जिनमें "अर्द्ध-मागधी" और "नागर" मुख्य हैं। "नागरन्तु महाराष्ट्री-शौरसेन्योस्तु संकरात्"—नागर प्राकृत महाराष्ट्री और शौरसेनीके मेलसे बनी है और यही नागर नागरीकी जननी है, जो हिन्दवीका ही दूसरा नाम है। अपभ्रंशका

थोड़ासा पुट देनेसे यह नागरी ही वर्त्तमान हिन्दी बन गयी, जो निम्न अव-तरणोंसे सिद्ध हो जायगा :—

भल्ला हुआ जु मारिआ बहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जं तु वयंसिअहु, जइ भग्गा घरु एन्तु॥
सिरि चडिआ खन्तिप्फलइं, पुणु डालइं मोडन्ति।
तोवि महद्दुम सउणाहं, अवराहिउ न करंति॥
पुत्तें जाएं कवणु गुण, अवगुणु कवणु मुएण।
जाबप्पीकी भुंहडी, चम्पिज्जइ अवरेण।
चम्पय कुसुमहो मज्झि, सहि भसलु पइट्ठउ।
सोहइ इन्दुनीलु, जणि कणइ बइट्ठउ॥
पिय-सङ्गमि कउ निद्दडी, पिअहो परोक्खहो केम्व'
मइँ बिन्निवि बिन्नासिआ, निद्द न एम्ब न तेम्व॥
जिवँ तिवँ तिक्खा लेवि कर, जइ ससि छोलिज्जन्तु।
तो जइ गोरिहें मुहकमलि, सरसिव कावि लहन्तु॥
वायसु उड्डावन्तिअए, पिअ दिट्ठउ सहसत्ति॥
अद्धा बलया महिहिं गय, अद्धा फुट्टि तडत्ति।
जाइज्जइ तहिं देसडइ, लब्भइ पियहो पमाणु।
जइ आवइ तो आणिअइ, अहवा तंजि निवाणु॥
गएउ सु केहरि पिअहु जलु, निच्चिन्तइं हरिणाइं।
जसु केरएँ हुंकारडएँ, मुहहुं पडन्ति तृणाइं॥
ढोल्ला मइं तुहुं वारिया, मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी, दडवड होइ विहाणु॥
विट्टीए मइं भणिय तुहुँ, मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिवँ मारइ हिअइ पइट्ठि॥

ऊपर दिये अवतरणोंमें दो प्रकारके शब्द पाये जाते हैं। प्रथम श्रेणीमें वे हैं जो हिन्दीसे ही जान पड़ते हैं; जैसे, भल्ला (भला), हुआ,

जु (जो) मारिआ (मार्‌या, मारा), बहिणी (बहिन), महारौ (हमारा), कन्तु (कन्त), तु (तो), भग्गा (भागा), घरु (घर), सिरि (सिर), चडिआ (चिड़िया), खन्ती (खाती), फलइं (फलहिं, फल), पुणु (पुनि), डालइं (डालहिं, डालें), मोडन्ति (मोड़ती), तोबि (तोबी, तोभी), न, करंति, जाएं, कवणु (कौन), जा, बप्पीकी, पइट्ठउ (पैठो), सोहइ (सोहै), कणइ[1] (कणें—हिन्दी कने, मराठी कड़े), जणि (जनि, जनु), बइट्ठउ (बैठो), पिय, मइं, जिवं (ज्यूँ, ज्यों), तिवं (त्यूँ, त्यों), एम्व (यों), तेवँ (त्यों), जइ (यदि), अद्धा (आधा), गय (गया), आवइ (आवै), आणिअइ (आनिये), गयउ (गयौ), पियहु इत्यादि। दूसरी श्रेणीमें वे हैं, जो प्राकृत-का चोला छोड़कर हिन्दीका जामा पहन रहे हैं; जैसे, भुहंडी, गोरिड़ी, रत्तिड़ी, निद्दड़ी, उड्डावन्ती (उड़ाती), देसडइ (देसको), जाइज्जइ (जाइये), वयंसिहु (वयसवालियोंमें), संगमि (सङ्गममें), छोलिज्जन्तु (छीलें), हरिणाइ (हिरणो), तृणाइ (तृण) इत्यादि।

इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्त्तमान हिन्दी प्राकृतसे निकली है। उर्दूके कुछ हिमायती बहुधा कहा करते हैं कि हिन्दी और कुछ नहीं, उर्दू ही है। उर्दूसे अरबी फारसी शब्द निकालकर संस्कृत भर दिये गये और इस प्रकार हिन्दी बन गयी। उनका यह कथन ऊपरके प्राकृत दोहे असिद्ध ठहराते हैं। हिन्दीसे उर्दू बनी है, उर्दूसे हिन्दी नहीं। हिन्दीमें अरबी फ़ारसी तुर्की शब्द बढ़ा देने और फारसी मुहावरे चला देनेसे उर्दूका जन्म हुआ है। वस्तुस्थिति यह है कि हिन्दीके बिना उर्दू एक पग नहीं धर सकती और उर्दूके बिना हिन्दीमें महाग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

इसी प्रसंगमें एक बात यह भी कही जाती है कि हिन्दीकी तृतीया विभक्तिका 'ने' चिह्न उर्दूसे लिया गया है। इसी कल्पनाके बलपर अमीर खुसरोकी पहेलीके इस अंशमें 'तरवरसे एक तिरिया उतरी उसने खूब रिझाया' में—'ने' देखकर कुछ नवयुवक यहाँतक कह बैठते हैं कि यह कविता

---

[1] कने बोलचालमें 'पास' अर्थमें कहीं कहीं आज भी सुननेमें आता है।

खुसरोकी है ही नहीं, क्योंकि खुसरोके समयमें 'ने' का प्रयोग नहीं होता था। परन्तु उन्हें क्या पता कि 'ने' का अस्तित्व रासोमें भी है। देखिये:—

भग्यो प्रव्वती एलची झारखंडी।
जिन्नै भुज्ज गोरी ग्रहल्लाज मंडी।।
परचो खान याकूब संसार साखी।
जिन्नै दीन बन्देनकी लाज राखी।।

ऊपरके दोनो अवतरणोंमें 'जिन्नै' पद वर्त्तमान 'जिनने' अर्थमें आया है।

वास्तवमें 'ने' संस्कृतके 'एन' चिह्नका रूपान्तर है। पुराने समयमें कर्मणि और भावे प्रयोगोंमें कभी 'ने' लिखा जाता था और कभी नहीं। हिन्दीमें ही नहीं, उर्दूमें भी यही बात थी। ता० २६-१०-१७२१ को महाराज जयसिंहकी इस चिट्ठीमें 'ने' का प्रयोग हुआ है:—

'सिधि श्री......नंदलालजी प्रधान व भाइजी ठाकुर संस्थान इंदोर अमरगढसूँ महाराजाधिराज श्री सवाई जयसिंहजी कृत प्रणाम बांचजो......सो आपको लिखते हैं कि बादशाहने चढ़ाई की है तो कुछ चिन्ता नहीं। श्रीपरमातमा पार लगावेगा। बाजीराव पेशवेसे हमने आपके निसबत कोलवचन कर लिया है।'

यह चिट्ठी सन् १७२१ की है और 'बाबाएं रेख़्ता' बलीका दीवान सन् १७१९ में दिल्ली पहुँचा था। परन्तु कबीरका जन्म तो सन् १३९८ में हुआ था, जब खुसरोको मरे ७३ वर्ष हो चुके थे और कबीरने भी नीचे लिखे पदमें 'ने' चिह्नका प्रयोग किया है और कहीं नहीं भी किया है :—

भजन बिन बावरे तैंने हीरासो जन्म गंवाया।।
कभी न आया सन्तां सरणा ना तैं हरिगुन गाया।
बह बह मरचो बैलकी नाईं सोय इहां उठि खाया।।
यह संसार हाट बनियेकी सब कोई सौदे आया।
चातुर माल चौगुना कीना मूरख मूल ठगाया।।
यह संसार फूल सेमरका शोभा देखि भुलाया।।

उर्दूके नामी लेखक और शाइर सौदाने लिखा है:—

जामे ख़ालीसे जो साक़ीने मुझे डहकाया।
मैं कहा, बख़्शिये, साहब मुझे, मैं भर पाया।।

डिंगल और पिंगल

इस प्राकृतका अनुकरण चन्दके रासो और दूसरे ग्रन्थोंकी भाषामें दिखायी देता है। इसके शब्दोंमें कोई तराश-ख़राश नहीं हुई और इसलिये लट्ठमार लक्कड़तोड़ बने रह गये। राजपुतानेमें भाषाके दो रूप माने जाते हैं, एक डिंगल और दूसरा पिंगल। डिंगल अनगढ़ भाषा है और इसमें अधिक तर राजपुतानेके चारणोंकी कविता होती है। राजपुतानेमें डिंगलेतर भाषाएँ पिंगल कहाती हैं, जिनमें ब्रज, बैससाड़ी, बुंदेलखण्डी, मैथिली आदि हैं।

जब महाराना प्रतापसिंह अकबरसे युद्धके कारण जङ्गलोंमें पड़े घासकी रोटी खाते थे, उस समय एक जङ्गली बिलाव उनकी लड़कीके सामनेसे रोटी लेकर भाग गया था। बस, भूखी कन्याका करुण क्रन्दन सुनकर महारानाका धीरज छूट गया और मेल करनेके लिये उन्होंने अकबरको सन्धिपत्र लिख भेजा। अकबरके दरबारमें बीकानेर-नरेश राजसिंहके छोटे भाई पृथ्वीराज राठौर कैद रहते थे। वे साहसी, वीर और सुकवि भी थे। उन्हें विश्वास नहीं हुआ कि प्रतापसिंह अकबरके सामने सिर झुकावेंगे और यह उन्होंने अकबरसे कह भी दिया। अकबरकी अनुमतिसे पृथ्वीराजने प्रतापसिंहको डिंगल दोहों और सोरठोंमें एक पत्र लिखा। ये दोहे आज भी राजपुतानेमें लोगोंके मुंहसे सुने जाते हैं। हमने खरवा जिला अजमेरके इस्तमरारदार स्वर्गीय राव गोपालसिंहजी राष्ट्रवरसे सुने थे। इस ऐतिहासिक पत्रकी मूल प्रति तो देखनेको नहीं मिली, परन्तु दोहे ये हैं:—

धर बाँकी दिन पाधरा मरद न मूकै माण।
घणा नरिंदा घेरियो रहै गिरिंदा राण।।१।।

जिस वीरकी भूमि विकट है और समय अनुकूल है, वह स्वाभिमान नहीं छोड़ता। वह राना बहुतसे नरेन्द्रोंसे घिरा हुआ पहाड़ीपर रहता है।

पातल राण प्रवाड़मल बाँकी घड़ा विभाड़।
खूँदाड़ै कुण है खुराँ तू ऊभा मेवाड़॥२॥

हे विकट सेनाओंके नाशक युद्धमल्ल महाराना प्रतापसिंह, तेरे खड़े रहते मेवाड़को घोड़ोंके खुरोंसे खुदानेवाला कौन है?

माई एहा पूत जण जेहा राण प्रताप।
अकबर सूतो ओंधकै जाण सिराणै साँप॥३॥

हे माता, ऐसा पुत्र जन जैसा राना प्रताप है, जिसको सिरहाने साँप समझकर अकबर सोतेसे चौंक पड़ता है।

अइरे अकबरियाह तेज तुहालो तुरकड़ा।
नमनम नीसरियाह राण बिना सह राजवी॥४॥

ऐ अकबर, तेरा तेज देखकर बड़ा आश्चर्य होता है, जिसके सामने रानाको छोड़ सब राजा झुक गये।

सह गावड़ियो साथ, एकण बाडै बाड़ियो।
राण न मानी नाथ, ताँड़ै साँड़ प्रतापसी॥५॥

हे अकबर, तूने गायोंकी तरह सब राजाओंको एक बाड़ेमें बन्द कर दिया है। केवल राना प्रतापसिंह तेरी नाथ न मानकर सांडकी तरह डकर रहा है।

पातल पाघ प्रमाण, साँझी साँगा हर तणी।
रही सदा लग राण, अकबरसू ऊभी अणी॥६॥

महाराना साँगाके पोते प्रतापकी पगड़ी ही सच्ची पगड़ी है, जो अकबरके सामने नीची नहीं हुई, ऊँची ही रही।

चोथो चीतोड़ाह, बाँटो बाजन्ती।
माथै मेवाड़ाह, थारै राण प्रतापसी ।।७।।

हे चित्तौड़के नाथ मेवाड़ाधिपति राना प्रतापसिंह, तेरे ही सिरपर पगड़ी है।

अकबर समुद अथाह, तिहँ डूबा हिन्दू तुरक।
मेवाड़ो तिण माहँ, पोयण फूल प्रतापसी ।।८।।

अकबर रूपी अथाह समुद्रमें हिन्दू तुरुक सब डूब गये। उनमें कमलके फूलकी तरह मेवाड़के राना प्रतापसिंह ही रह गये।

अकबरिये इक वार, दागल की सारी दुनी।
अनदागल असवार, चेटक राण प्रतापसी ।।९।।

अकबरने सारी दुनियाको एक ही बारमें दागी कर दिया। परन्तु चेटक घोड़ेके सवार राना प्रतापसिंह बेदाग--निष्कलंक--रह गये।

अकबर घोर अँधार, ऊँबाणां हिन्दू अवर।
जागै जगदातार, पोहर राण प्रतापसी ।।१०।।

अकबर रूपी घोर अँधेरी रातमें और सब हिन्दू सो गये। जगतका दाता राना प्रतापसिंह पहरेपर खड़ा जाग रहा है।

हिन्दू-पति परताप, पति राखो हिन्दुआणरी।
सहो विपत सन्ताप, सत्य सपथ करि आपणी ।।११।।

हे हिन्दूपति प्रताप, हिन्दुओंकी लज्जा रखो। अपनी प्रतिज्ञा सच्ची करनेके लिये सब कष्ट सहो।

चम्पो चीतोड़ाह, पोरस तणो प्रतापसी।
सौरभ अकबर साह, अलियल आमड़िया नहीं ।।१२।।

चित्तौड़ चम्पा है और प्रताप उसकी सुगन्ध है। अकबर-रूपी भौंरा उसके पास नहीं फटक सकता।

पातल जो पतसाह, बौलै मुख हूता बयां।
मिहर पछम दिस माहिं, ऊगै कासप राववत ।।१३।।

प्रताप जो अपने मुँहसे अकवरको बादशाह कहे, तो कश्यप-पुत्र सूर्य पश्चिममें उगे।

पटकूँ मूखा पाण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दोमहली बात इक ।।१४।।

हे दीवान, मैं अपनी मूँछपर हाथ फेरूँ या अपने शरीरको तलवारसे काट डालूँ, इनमें एक बात लिख दे।

पत्र पाकर प्रतापका साहस सौ गुना हो गया और फिर पूर्व-प्रतिज्ञाके अनुसार उन्होंने उत्तरमें लिखा :—

तुरुक कहासी मुखपतो, इण तणसूँ इकलिंग।
ऊगै जाहीं ऊगसी, प्राची बीच पतंग ।।१।।

एकलिंग भगवान् इस शरीरसे प्रतापके मुँहसे तो अकबरको तुरुक ही कहावेंगे और सूर्य पूर्वमें जैसे उगता है वैसे ही उगेगा।

खुसी हूँत पीथल कमध[1] पटको मूँछा पाण।
पछटण है जेतै पतो कमला सिर केवाण ।।२।।

हे कमधज[2] पृथ्वीराज, खुशीसे मूँछोंपर ताव दो। जबतक प्रतापसिंह जीवित है, तब तक यवनोंके सिरपर तलवार जानो।

---

१. कमध=कमधज=कबंधज।

२. संवत् सु बारा सौ इकावन (१२५१), विक्रमी दल साज।
आयो जु साहबुदीन सनमुख, भये रन महाराज (जयचन्द) ।।७।।
सर अर्ध चन्द्राकार लग, कट परचो सिर मधि जंग।
कछु काल रितयो तदपि थिर रहि, दुरद पीठ निखंग ।।८।।

सांग मूँड सहसीस को समजस जहर संवाद।
भड़ पीथल जीतो भलाँ बैण तुरुक सूँ बाद ।।३।।

राना प्रताप सिरपर भाला सहेगा, क्योंकि बराबरवालेका यश विषसा जान पड़ता है। हे वीर पृथ्वीराज, तुरुकसे वादानुवादमें आपकी विजय हो।

वीर पृथ्वीराजकी और भी कविता डिंगल और पिंगल दोनोमें है; विस्तारभयसे यहाँ लिखी नहीं गयी।

राजपुतानेमें ऐसे अनेकों अवसरोंपर डिंगलकी कवितामें ही अपने मनोभाव व्यक्त किये जाते थे। जब महाराना अमरसिंह जहाँगीरकी फौजोंके दबावसे जङ्गल जङ्गल घूमते-फिरते थक गये थे, तब नवाब ख़ानेख़ानाँको उन्होंने ये दो दोहे लिख भेजे थे :—

हाड़ा कूरम रावबड़, गोखाँ जोख करन्त।
कहियो खानाखानने, बनचर हुआ फिरन्त।।
तुवराँसूँ दिल्ली गयी, राठोड़ाँ कनवज्ज।
राण पयम्पे खानने, वह दिन दीसै अज्ज।।

उत्तरमें ख़ानेख़ानाँने लिखा :—

धर रहसी रहसी धरम, खपजासी खुरसाण।[1]
अमर विशम्भर ऊपरे, राखो नहचो राण।।

यह हेत कहत कवन्धज तु तिह, वंशको विख्यात।
अति रुधिरसों अन्हवाय अवनी, दई यवनन हात।।
कट परत मस्तक लरत घर, तिहि कहत हैं जु कबंध।
अपभ्रंश कमधज शब्द भौ, मरु देश पाय संबन्ध।।९।।
कविराज मुरारीदान कृत—जसवन्तभूषण पृष्ठ ५।६

१ खुरासानसे ही मुग़ल आये थे, इसलिये उन्हें इस दोहे में 'खुरसाण' कहा है।

ये दोहे कठिन डिंगलमें नहीं हैं और थोड़े ही ध्यानसे समझ में आ जाते हैं। "ढोला मारूरा दूहा" की भाषा इससे भी सरल है और अपभ्रंश प्राकृतसे बहुत मिलती है। देखिये :—

भरइ पलट्टइ भी भरइ, भी भरि भो पलटेहि।
ढाढ़ी हाथ सन्देसड़ा, धण बिललन्ती देहि।।
जिणि देसे सज्जन वसइ, तिणि दिसि बज्जउ वाउ।
उआँ लगे मो लग्गसी, ऊही लाख पसाउ।।
दुखवीसारण मनहरण, जो ई नाद न हुन्ति।
हियड़ो रतन-तलाव ज्यूँ, फूटी दह दिसि जन्ति।।

हिन्दीमें विदेशी शब्द

जब भिन्न भाषा बोलनेवाली दो जातियोंका सम्पर्क होता है, तब एककी भाषाके शब्द दूसरीकी भाषामें मिलने लगते हैं। अधिक सम्पर्क होता है, तब अधिक शब्द मिलते हैं, कम होता है, तब कम मिलते हैं। पिक, नेम (नीम), सत और तामरस शब्द संस्कृतके नहीं हैं। पर आज कितने पण्डित ऐसे मिलेंगे जो उन्हें संस्कृतेतर भाषाके शब्द समझते होंगे? सबसे आश्चर्यकी बात तो यह है कि ये वेदोंतकमें पाये जाते हैं। मीमांसापर भाष्य लिखनेवाले शबर मुनिका कहना है कि इन म्लेच्छ शब्दोंका प्रयोग आर्य लोग नहीं करते। म्लेच्छ जिन अर्थोंमें करते हैं, उनसे यदि वैदिक परम्परासे कोई विरोध न हो, तो उन्हीं अर्थोंमें करना चाहिये।

इस देशमें यूरोपकी अनेक जातियाँ आयीं और अँगरेजोंने भी डेढ़ सौ वर्षोंतक राज किया। पोर्तगीज लोगोंका राज्य उधर बम्बईकी तरफ ही रहा, पर फिर भी अलमारी, गिरजा, पाउ (रोटी), फालतो (फालतू) इत्यादि अनेक पोर्तुगीज शब्द हमारी भाषामें प्रचलित हो गये। बाज़ारकी मिठाईकी तरह बे-रोक-टोक लोग इनका व्यवहार कर रहे हैं। अरबी, तुर्की और फारसीके भी बहुत शब्द प्रचलित हैं। मुसलमानी भाषाओंमें

सबसे कम तुर्की शब्द हिन्दी आदि भाषाओंमें आये हैं। इनके बाद अरबी और सबसे अधिक फारसी शब्द हम लोग व्यवहार करने लगे, क्योंकि शासकोंकी भाषा फारसी थी। अरबी शब्द भी फारसीके द्वारा ही आये हैं। अंगरेजी शब्द भी हजारोंकी संख्यामें हमारी भाषामें मिल गये हैं, जिनको साधारण लोग पहचान भी नहीं सकते। यही नहीं, अंगरेज चले गये, पर जबतक हम लोग उनकी भाषाका व्यवहार करते रहेंगे, तब तक हमारी भाषामें अंगरेजी शब्दोंका आना बन्द नहीं हो सकता। फिर नये नये भाव और आविष्कार हमें उसके शब्द लेनेको बाध्य करते हैं।

हिन्दीका प्राचीन ग्रन्थ इस समय "पृथ्वीराज रासो" माना जाता है, क्योंकि इससे पहलेके जो ग्रन्थ मिलते हैं, वे सब प्राकृतमें हैं। चन्दके इस रासोमें विदेशी शब्दोंका बहुल प्रयोग आश्चर्य-जनक है, परन्तु कारण पर विचार करनेसे आश्चर्यका उतना कारण नहीं रहता और इसे प्रकृतिका नियम मानना पड़ता है। चन्द लाहोरका निवासी था और पञ्जाबपर कोई दो सौ साल पहले से ही मुसलमानोंका राज था, इसलिये चन्दकी कविता में मुसलमानी—अरबी, फारसी और तुर्की शब्दोंका आ जाना आश्चर्यका विषय नहीं है। इसके सिवा रासोमें शिहाबुद्दीनके साथ युद्धका भी वर्णन है, जिससे अरबी, फ़ारसी शब्दोंका आना अनिवार्य हो गया। चन्द बरदायीके इस महाकाव्यमें क्या है, इसकी सूचना इस श्लोकमें दी गयी है:—

उक्ति धर्मविशालस्य राजनीति नवंरसं।
षट् भाषा पुराणञ्च कुरानं कथितं मया।।

—समय १ रूपक ३८

षट् भाषा वा षड्भाषासे संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंशका अभिप्राय है।[1] चण्डके इस मतसे लक्ष्मीधर सहमत नहीं

---

१. संस्कृतं प्राकृतं चैषाऽपभ्रंशोऽथ पिशाचिका।
मागधी शूरसेनी च षड्भाषाश्च प्रकीर्तिताः।।

प्राकृत लक्षण पृ० ४६

हैं। ये संस्कृतको षड्भाषामें नहीं रखते, उसकी जगह चूलिका पैशाची को देते हैं।[1]

रासोसे जो अवतरण नीचे दिये जाते हैं, उनमें मोटे अक्षरोंमें जो शब्द हैं, वे सब अरबी या फ़ारसीके हैं :—

हसम हयगय देस अति, पति सायर **म्रज्जाद**।
प्रबल भूप सेवहिं सकल, धुनि **निसान** बहु **साद**॥
भइ सु आनि **अवाज**, आय **साहाबदीन** सुर।
बलक सोवलं **तेग** अच्चूक तीरं।
ठटीठट्ट **बल्लोच** ढालं **निसानी**॥
तुम छंडि **सरम** हम कहौ बत्त।
आसिक्क तासु हुस्सेन हुअ।
हुस्सेन मीर **सल्लाम** करि।
डेरा **हरम** सुपिट्ठ रवि, चिहुँ पष्षां वर भीर।
पासबान कुल सील सम, पास रष्षि वर नीर॥
पात्र एक **साहाब** संग हूर **नूर** गुणगान॥
तरकस पाँच गिरंम।
संजाब षान उमराव सब्ब, लज्जी अनन्त **आदब्ब** थाह॥
मुक्कौं सु **गुनह** कीनौ पसाव।
करि **गोसल्ल** पवित्र होइ चिते **रहमानं**॥
उलटचौ सेन समुद्रह **आब**।
बकै **दीन दीनं** भरं अप्प दूरं।
हयं छंडि कामं मनं गन्नि गस्सं।
बज भेरि **नफेरि** भयानं सुरं।

---

१. षड्विधा सा प्राकृती च शौरसेनी च मागधी।
पैशाची चूलिका पैशाची अपभ्रंश इतिक्रमात्॥
षड्भाषा चन्द्रिका पृ० ४

तब भैरव इक गन सरिस।
किन हुकम हरनन्द।
पच्चास पंच हज्जार गन्नि।
पद्‌मह पुरान तिन कह्यौं।
आरब्ब बोल बोल्यौं बिरूर।
सुरतान जानि जंप्यौं गरूर।
प्रतिबुद्ध लहौं प्रथिराज नूर।
अतुलित जुद्ध सामन्त सूर।।
गय महल साहि मिलि कही बत्त।
सिर धुनि रीस करि नैन रत्त।।
कल्हि तरीक सउच्च दिन,
चढ़ि मरि सद्धौं सार।
कहा डर काफर दाखहु मुज्झ।।
कहा भर आवध आगर जुज्झ।
कही षबरि सुरतान।।
वीर सोर आघात सुनि, गज छुटि बन्धन तोरि।
भिरे उभय भयभीत होइ, परि दरबारह होरि।।
अष्ट सहस असवार, तुङ्ग तिय अग्ग बनाइय।
पेसकसी पतिसाह कूर परपंचन आइय।।
लैं फुरमान समान धरि।
जमन जोर बल बहुत करि।
साध्रमं हत्थ तस्वी सुरष्ष।
दई चितरेषा सिताबी सुडोर।
प्रात कूच उप्परैं।
आज मुक्काम जु दुस्तरि।।
झुकि प्रथिराज नरिंद।
सिलह सज्जी नदि उतरि।।

दुअ **कोटल** दुअ नृपति, किन्ने **हाजुर** आनि।
सुर असुरन करि मेर, मथत **दरिया** हिल्लोरी।।
मर्दन सों मिलि **मरद, मरद** बुल्यो भूप **नाहर**।
लोहानें अरि **फौज**, चक्क चिहुँ कोद फिराइय।।
नाहर नाहर राय, **कहर नाहर** सुकन्ह कर।
राजनीति गज लब्भि, सीस लग्गा **असमानं**।
मण्डोवर परिहार मारि उज्जार **जेर** किय।
सगपन इक षग त्रास, **षलक** सेवा सिर मण्डहि।
एक सुदिन सोमेस, दूत **हज्जूर** बुलाइय।
तौ पत्तन सुनि श्रव्व **कग्गद** वर **षलपंज** आकूतयं।
हथनारि धारि **आतस अनंत, सोर** रोर **अम्मर** उडिय।
झिनं केति पग्गं हिनंक्केति **ताजी**।
मिलैं भूप भूपं महावीर **गाजी**।।
लगैं **गुर्ज** सीसं इसे टोप टुट्टैं।
प्रलै काल **ष्यालं** मनौं वीर जग्गै।।
चढ्ढिय **जिहाज** जस जट्ठि खल।
धुकत धरनि **षावास**। कोपि **कैमास** कालकर।
हुअ डेरा **नौबति** बिहसि। पंच सबद **दरबार**।

चन्दके पहलेके किसी कविका हमें पता नहीं है, जिसके ग्रन्थ देखनेमें आये हों। परन्तु चन्दके बाद जो पहला कवि हुआ, वह हिन्दू नहीं, मुसलमान था और उसने डिंगलमें नहीं, पिंगलमें रचना की थी। यह अनुमान करनेके कारण हैं कि डिंगलका युग बीत चुका था, क्योंकि राजपूत राजाओंने पिंगल साहित्यका बड़ा आदर किया था। आमेर-जयपुरके राजा जयसिंह मिर्जाने कविवर बिहारीलालको प्रोत्साहन देकर "सतसई" लिखायी और जयपुरके महाराज जगतसिंहने कवि पद्माकरको आश्रय दिया, जिन्होंने "जगद्विनोद" की रचना की। जोधपुरके महाराज जसवन्तसिंह भी पीछे न रहे और उन्होंने स्वयं संस्कृत ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के "ध्वन्यालोक" भागका भाषान्तर

"भाषाभूषण" नामसे दोहोंमें किया। दूसरे महाराज जसवन्तसिंहने अपने दरबारके कवि महामहोपाध्याय कविराजा मुरारीदानको एक विस्तृत अलंकार ग्रन्थ लिखनेकी आज्ञा दी, जिसके फलस्वरुप "जसवन्त भूषण" और "जसवन्त जसोभूषण" की रचना हुई। ये सभी ग्रन्थ पिंगलमें हैं।

पिंगलके प्रथम कवि अमीर खुसरोके बाद जो कवि हुए हैं, उन्होंने यथेच्छा फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्दोंका व्यवहार किया है। केवल सूरदास अपवाद हैं, जिन्होंने विदेशी शब्दोंका प्रयोग बहुत कम किया है। परन्तु कबीर, नानक, तुलसीदास, बिहारी, गङ्ग, भूषण, पद्माकर और पजनेसने तो उनका खूब ही प्रयोग किया है। इस विषयमें हिन्दू और मुसलमान कवियोंमें बड़े मार्केका अन्तर है, क्योंकि हिन्दुओंने तो विदेशी शब्दोंका प्रयोग किया है और मुसलमान यथासाध्य उनसे बचते रहे हैं। जायसी, रहीम, रसखान, रसलीन, उसमान, मुबारक इत्यादिकी कवितामें ऐसे शब्द बहुत कम पाये जाते हैं।

हिन्दी और मुसलमान

"पृथ्वीराज रासो"के समयसे हिन्दुस्तान वा मध्य देशपर मुसलमानी राज्यका आरम्भ होता है। बड़े ही खेदकी बात है कि "पृथ्वीराज रासो" के पूर्वकी और खुसरोके पूर्वकी भाषाओंके निदर्शन नहीं मिलते, परन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि चन्दके पहले भी डिंगलके अच्छे कवि हो गये होंगे, क्योंकि किसी आदि ग्रन्थमें भाषा और भावोंका ऐसा सौष्ठव सम्भव नहीं है, जैसा रासोमें है। यही बात खुसरोके बारेमें भी कही जा सकती है, । खुसरोकी भाषाको देखकर हर कोई कह सकता है कि यह खुसरोकी पैदा की हुई नहीं है और चाहे जैसा विद्वान् हो, कोई ऐसी परिमार्जित भाषा आरम्भमें लिख ही नहीं सकता। इसलिये चन्दके पहले और खुसरोके पहले बहुत-सा साहित्य बन चुका होगा, जिसका हमें पता नहीं है। डिंगल और पिंगल दोनोंके विषयमें यही बात है।

अलाउद्दीन खिलजीके जमानेमें अमीर खुसरोने हिन्दीकी कविता रची थी। खुसरो बड़े भारी पण्डित थे। वे अरबी, फ़ारसी, तुर्की, तूरानी, हिन्दी प्रभृति कई भाषाएँ जानते थे। उन्होंने ११ बादशाहोंको दिल्लीके तख्तपर चढ़ते उतरते देखा था और ७ बादशाहोंके तो वे दरबारी ही थे। खुसरोका देहान्त सन् १३२५ में हुआ था और उस समय वे ८० वर्षके लगभग रहे होंगे।

खुसरोके समयमें ही हिन्दुओंमें फ़ारसी पढ़नेका चाव पैदा हुआ था, क्योंकि यह राजभाषा थी। हिन्दुओंकी यह लालसा खुसरोने "ख़ालिक़बारी" लिखकर पूरी की थी। हिन्दी भाषामें भी बहुत-से फ़ारसी, अरबी और तुर्की शब्द चल पड़े थे। ख़ालिक़बारीके सिवा खुसरोकी बहुत-सी पहेलियाँ, मुकरियाँ या कह-मुकरियाँ और सुख़ने आदि प्रसिद्ध हैं। ये सब फ़ारसी अक्षरोंमें लिखे गये होंगे, क्योंकि यद्यपि खुसरो हिन्दुओं और मुसलमानोंकी

भाषाओंके बीचमें सेतुका काम कर रहे थे, तथापि उनकी पहेलियाँ, मुकरियाँ आदि उन मुसलमान रईसों और उमराके मनोविनोदका कारण ही होती थीं, जो हिन्दी और फ़ारसी आदि भाषाएँ जानते थे। हिन्दुओंमें बहुत कम लोग अमीर साहबकी ज़बाँदानीका लुत्फ़ उठा सकते थे, क्योंकि वे मुसलमानी भाषाओंमें प्रवेश ही करने लगे थे।

ख़ुसरोकी "खालिक़बारी" फ़ारसी छन्दमें लिखी गयी थी। नमूनेके लिये कुछ पद्य नीचे दिये जाते हैं :—

रसूल पैग़म्बर जान बसीठ। यार दोस्त बोलै जो ईठ॥
मर्द मनस ज़न हैं इस्तरी। क़हत अकाल वबा है मरी॥
बिया बिरादर आव रे भाई। बिनशीं मादर बैठ री माई॥
तुरा बुगुफ़तम मैं तुझ कह्या। कुजा बिमांदी तू कित रह्या॥
राह तरीक़ सबील पहचान। अर्थ तिहूका मारग जान॥

रसूल अरबीमें और पैग़म्बर फारसीमें दूतको कहते हैं। बसीठ हिन्दीमें दूतका नाम है, जैसे तुलसीदासजीने अङ्गदसे कहलवाया है "दसकन्धर मैं न बसीठी आयउँ।" बसीठ वसिष्ठसे बना है और दौत्यको बसीठी कहते हैं। इष्टसे ईठ बना है, पर आजकल हिन्दीमें इसका प्रयोग नहीं होता। यद्यपि ईठको लोग भूल गये हैं, तथापि उसके संस्कृत रूप इष्टका प्रयोग करते हैं और इष्ट मित्र लिखते और बोलते हैं। अन्तिम बैतमें "तुझ कह्या" और "कित रह्या" आये हैं, जो आज भी दिल्ली और उसके आसपास कहीं कहीं बोले जाते हैं।

ख़ुसरोकी पहेलियाँ और मुकरियाँ बड़े मार्केकी होती थीं और मुकरीके तो वे आविष्कारक ही माने जाते हैं। पहेलियोंमें वे उनके उत्तर और अपना नाम भी डाल दिया करते थे, यह उनकी विशेषता थी। देखिये :—

पहेली

तरवरसे एक तिरिया उतरी उसने खूब रिझाया।

बापका उसके नाम जो पूछा आधा नाम बताया॥

आधा नाम पितापर वाका बूझ पहेली मोरी।
अमीर खुसरो यों कहे अपने नाम निबोरी ।।(निबोरी)
चार महीने बहुत चले और महीने थोरी।
अमीर खुसरो यों कहे तू बता पहेली मोरी ।।(मोरी)
जलकर उपजै जलमें रहे, आँखों देखा खुसरो कहे ।।(काजल)
बीसोंका सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया।।(नाखून)

मुकरी

सगरी रैन मोहिं सँग जागा।
भोर भई तब बिछुरन लागा ।।
वाके बिछुरे फाटत हीया।
ए सखी! साजन? ना सखी दीया।।
सगरी रैन छतियनपर राखा।
रङ्ग रूप सब वाका चाखा।।
भोर भई तब दिया उतार।
ए सखी! साजन? ना सखी हार ।।
वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय।।
मीठे लागें वाके बोल।
ए सखी! साजन? ना सखी ढोल ।।

दोसुखना हिन्दीका

बम्हन प्यासा क्यों? गधा उदासा क्यों? लोटा न था।
जूता क्यों न पहना? सँबोसा क्यों न खाया? तला न था।
पान सड़ा क्यों ? घोड़ा अड़ा क्यों ? फेरा न गया।

दोसुखना फ़ारसी-हिन्दीका

सौदागररा चि मीबायद ? बूचेको क्या चाहिये ? (दूकान)
तिशनारा चि मीबायद ? [illegible] क्या चाहिये ? (चाह)

सौदागरको क्या चाहिये ? दूकान । और बूचेको—जिसके कान न हों, उसे भी दो कान (दूकान) चाहिये । इसी तरह प्यासेको क्या चाहिये ? कुआँ । फ़ारसीमें कुएँको चाह कहते हैं । मिलाप भी बिना चाहके नहीं होता । इसलिये इस दोसुखनेका जवाब हुआ चाह ।

खुसरो बड़े विलक्षण पण्डित थे । फ़ारसी-हिन्दीके दोसुखनेसे ही उन्होंने बस नहीं किया, बल्कि फ़ारसी-हिन्दीकी ग़ज़ल भी लिख डाली । उनकी यह ग़ज़ल बहुत मशहूर है और जिस समय यह बनी होगी, हिन्दीदाँ मुसलमानोंने चारों तरफसे वाहवाहकी झड़ी लगा दी होगी । वह ग़ज़ल यों है :—

ज़िहाले मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल
दुराय नैना बनाय बतियाँ ।
कि ताबे हिजराँ न दारम् ऐ जाँ
न लेहु काहे लगाय छतियाँ ।
शबाने हिजराँ दराज़ चूँ ज़ुल्फ़ो
रोज़े वस्लत चु उम्र कोताह ।
सखी पियाको जो मैं न देखूँ
तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ।।
यकायक अज़ दिल दो चश्मे जादू
बसद फ़रेबम् बुबुर्द तस्कीन ।
किसे पड़ी है जो जा सुनाये
पियारे पीको हमारी बतियाँ ।।
चु शमा सोज़ाँ चु ज़र्रह हैराँ
ज़े मेहरे आँ महवेगुश्तम आखिर
न नींद नैना न अङ्ग चैना
न आप आये न भेजे पतियाँ ।।
बहक्क़ रोज़े विसाले दिलबर
कि दार मारा फ़रेब ख़ुसरो ।

लुभाय राखूँ तु सुन ऐ साजन
जो कहने पाऊँ दो बोल बतियाँ ।।

अर्थ—आँखें छिपाकर और बातें बनाकर दुखियोंकी दशाकी अव-हेलना मत करो। ऐ मेरी जान, मैं विरहके सहनेमें असमर्थ हूँ, इसलिये क्यों नहीं छातीसे लगा लेतीं। विरहकी रातें तो जुल्फ़की तरह लम्बी हैं और मिलनका दिन उम्रकी तरह छोटा है। ऐ सखी ! जो मैं पियाको न देखूँ तो अंधेरी रातें कैसे काटूँ ? उसने तो आँखोंके जादू और सैकड़ों जाल-फ़रेबोंसे मेरे दिलसे सहसा सन्तोषका हरण कर लिया। किसे पड़ी है जो प्यारे पतिको मेरी ये बातें जा सुनावे ? अन्तको मैं उस चन्द्रमुखीकी कृपासे बत्तीमें जलनेवाले ज़र्रेकी तरह हैरान हो गया, इससे न नैनोंमें नींद है और न शरीरको चैन है। वह न आप आते हैं और न पत्र भेजते हैं। ऐ खुसरो, मुझे सचमुच (अथवा खुदाकी क़सम) मुझे प्रियतमसे मिलनेके दिनने धोखा दिया। ऐ साजन ! सुन, जो मैं दो बातें कर पाऊँ तो उसे लुभा रखूँ।

यह बड़े ही खेदकी बात है कि भाषामें बहुत-सा साहित्य निर्माण हो चुकनेपर भ. जहाँ तक हिन्दवी या हिन्दीका सम्बन्ध है, कबीरके पहले तक कुछ नहीं हुआ। सन्त कबीरके बाद दूसरे सन्त नानक हुए और इनके बाद पानीपतकी दूसरी लड़ाईतक हिन्दी अन्धकारमें रही। इस समय मुग़लोंका साम्राज्य स्थापित हुआ। अकबरका शासन-काल हिन्दीके उत्थानका काल समझना चाहिये, जब बहुत से कवियोंने अनेक बोलियोंमें रचना की।

अकबरके शासन-कालमें उच्चकोटिका साहित्य-निर्माण हुआ, क्योंकि साधारण कवि ही नहीं, बादशाह और उनके हिन्दू-मुसलमान मन्त्री भी हिन्दीमें कविता करते थे। बीरबल या बीरबर अकबरके बड़े मुँहलगे थे और उनकी मृत्युपर बादशाह बड़े शोकाकुल हुए थे। उन्होंने अपना मनोभाव इस सोरठे द्वारा व्यक्त किया था :—

सब कछु दीनन दीन, एक दुरायो दुसह दुख।
सोउ दे हमहि प्रवीन, नाहि राख्यो कछु बीरबल ।।

बीरबर अपनी वर्ष-गाँठपर अपना सर्वस्व दान कर दिया करते थे। युद्धपर जाते समय भी उन्होंने यही किया था। वहीं वे काम आये। इसका दुःख अकबरको बहुत हुआ और वही इस सोरठेमें प्रगट किया गया है।

अकबरके महामन्त्री नवाब अब्दुर्रहीम ख़ानेख़ानाँ थे। ये भी अमीर ख़ुसरोकी तरह बड़े विलक्षण पण्डित थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमीर साहब और नवाब साहबमें किसका पाण्डित्य अधिक था, परन्तु नवाब ख़ानेख़ानाँको हिन्दीकी अनेक उपभाषाओंका अच्छा ज्ञान था। इन्होंने ब्रजभाषा, राजपुतानी और खड़ी बोलीमें भी कविता की है। और तो क्या, जहाँ अमीर खुसरोने फ़ारसी हिन्दीकी खिचड़ी पकायी है, वहाँ इन्होंने संस्कृत-हिन्दी मिश्रित कविता की है। छन्द भी संस्कृत ही रखा है।

ब्रजभाषा

रहिमन जो ओछो बढ़ै तो अति ही इतराय।
प्यादेसे फर्जी भयो, टेढ़ो टेढ़ो जाय॥
यों रहीम सुख होत हैं, बढ़चौ देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अँखियान लखि, आँखिनको सुख होत॥
छार मुण्ड मेलत रहत, कहु रहीम केहि काज।
जेहि रज रिषिपत्नी तरी, सो ढूँढत गजराज॥

हिन्दी—खड़ी बोली

कलित ललित माला बाजवाहिर[1] जड़ा था।
चपल चखनवाला चाँदनीमें खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला
अलिबन अलबेला यार मेरा अकेला।

---

१. बाजवाहिर = रत्नसे।

संस्कृत-हिन्दी मिश्रित

दृष्ट्वा तत्र विचित्रतां तरुलतां, मैं था गया बाग़में ।
काचित्तत्र कुरङ्गशावनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी ।।
उन्मद्भ्रू धनुषा कटाक्षविशिखैः, घायल किया था मुझे ।
तत्सीदामि सदैव मोहजलधौ, हे दिलगुज़ारी शुकर ।।
एकस्मिन्दिवसे ऽवसानसमये मैं था गया बागमें ।
काचित्तत्र कुरङ्गबालनयना, गुल तोड़ती थी खड़ी ।।
तां दृष्टवा नवयौवनां शशिमुखीम्, मैं मोहमें पड़ गया ।
नोजीवामि त्वया बिना श्रृणु सखे, तू यार कैसे मिले ।।

ख़ानेख़ानाँने राजपूतानेकी बोलीमें जो दोहा बनाकर महाराना अमरसिंहको भेजा था, उसकी चर्चा पहले हो चुकी है । वे ज्योतिषी भी बड़े भारी थे, इसलिये ज्योतिष सम्बन्धी कविता भी की थी ।

'खेट कौतुक जातकम्' नामक सवा सौ श्लोकोंकी उनकी पुस्तिका प्रसिद्ध है । इन श्लोकों की भाषा संस्कृत फ़ारसी मिश्रित है । राजयोगाध्यायके कुछ श्लोकोंमें हिन्दीकी भी खिचड़ी पकायी गयी है । उसीसे ये उद्धृत किये जाते हैं :—

यदा मुश्तरी कर्कटे बाकमाने ।
यदा चश्मख़ोरा ज़मीवासमाने ।।
तदा ज्योतिषी क्या कहै क्या पढ़ेगा ।
हुआ बालका पादशाही करैगा ।।[१]
यदा शत्रुखाने पड़ै उच्चका ।
करै ख़ाक दौलत फिरै जा बजा ।।

---

१. जिसकी जन्मपत्रीमें कर्क वा धनके बृहस्पति हों और दसवें स्थान में बृहस्पति हों, तो ज्योतिषी क्या लिखे पढ़ेगा, क्योंकि वह लड़का पादशाही करेगा ।

इसी तरहका एक पद्य तो बिलकुल हिन्दीहीमें है, देखिये :—

यदा भाग्य मालिक भले घर पड़ै। कमाकर सुदौलत ख़ज़ाने भरै॥
करैंगे जबख़्शी अमीरी सुफल। वज़ीरी अमीरी करैं बेफ़िकर॥

अकबरके शासनकाल और उसके बाद भी कई बहुत अच्छे मुसलमान कवि हुए, पर इनकी कविता हिन्दू ढंगकी और भाषामें ही हुई। ख़ुसरो या खानेखानाँकी जोड़का खड़ीबोलीका कवि नहीं हुआ। रसखान भी खानेखानाँके समसामयिक थे, परन्तु इनकी कविता किसी परम वैष्णवकी कवितासे उन्नीस नहीं थी। यह कवित्त इनका बहुत प्रसिद्ध है :—

मानुष हों तो वही रसखान,
बसौं मिलि गोकुल गाँवके ग्वारन।
जौ पशु हों तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नन्दकी धेनु मँझारन।
पाहन हौं तौ वही गिरिकौ,
जो कियो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जौ खग हों तौ बसेरो करौं,
वा कलिन्दिजा कूल कदम्बकी डारन।

गंग कवि अकबरके समसामयिक थे और कहा जाता है कि नवाब ख़ानेख़ानाँने ३६ लाख रुपये इन्हें इनाममें दिये थे। इनकी प्रशंसामें उनका यह कवित्त था :—

राजे भाजे राज छोड़ि रन छोड़ि राजपूत,
रौतौ छोड़ि राउत रनाई छोड़ि रानाजू।
कहै कवि गंग हूल समुद्रके चहूँ कूल,
कियो न करै कबूल तिय खसमाना जू।
पश्चिम पुरतगाल कासमीर अवताल
खक्खरको देस बाढ़्यो भक्खर भगाना जू।

रूम साम लोम सोम बलक बदाऊशान
खैल फैल खुरासान खीझे खानखाना जू ।।

गंग कवि अरबी-फ़ारसी शब्दोंका प्रयोग तो अपनी कवितामें करते ही थे, पर इन्होंने हिन्दी-फ़ारसी मिश्रित कविता भी की थी। (खुसरोने फ़ारसी-हिन्दी मिश्रित की थी।) देखिये, एक आध कवित्त इस प्रकार है :—

कौन घरी करिहैं विधना
जब रूए आँ दिलदार मुबीनम्।
आनन्द होइ तबै सजनी
दर वस्ले यार निगारनशीनम् ।

गंग कवि अनेक भाषाएँ जानते थे और इसलिये इनकी कवितामें अनेक प्रकारकी भाषाएँ रहती थीं। कविवर भिखारीदासका यह दोहा प्रसिद्ध है :—

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविनके सरदार।
जिनके काव्यनमें मिली भाषा विविध प्रकार।।

गंगके बाद हिन्दू कवियोंकी भाषामें फ़ारसी-अरबी शब्द और भाव जोरोंके साथ आने लगे थे। इनके प्रायः सौ वर्ष बाद सं० १७६० में रसनिधि (दतियाके जागीरदार पृथ्वीसिंह) हुए हैं। इनकी कविता देखिये :—

जेहि मग दौरत निर्दई, तेरे नैन कजाक।
तेहि मग फिरत सनेहिया, किये गरेबाँ चाक ।।

कजाक—क़ज़्ज़ाक़ शब्दका अपभ्रष्ट रूप है। अरबीमें इसका अर्थ डाकू है। इसीका रूपान्तर अंगरेजीका कोजाक वा कासक शब्द है। यह एक रूसी जाति है जो घुड़सवारी में बहुत निपुण समझी जाती है। हिन्दीमें यह शब्द बहुत प्रचलित है। कवितामें तो कजाकी या कजाखी शब्द बहुत

आता है, जैसे "करत कजाखी कजरारे नैन कोरदार।" परन्तु बोलचालमें इसका प्रयोग 'बदमाशी' के लिये होता है। गरेबान् अंगरखेकी चोलीको कहते हैं और चाक करना, फाड़ना है। यह भाव बिलकुल फ़ारसी है। गरेबाँ चाक दिखानेका अर्थ अपना हृदय खोल देना है।

शाहजहाँ अकबरका पोता था, पर कविता हिन्दुओंकी-सी ही करता था। जब औरंगजेबने इसे हर तरहसे तङ्ग करना शुरू किया, तब इसने दुखी होकर यह कवित्त बनाया था:—

जन्मत ही लख दान दियो अरु नाम धरचो नवरङ्गबिहारी।
बालहिंसो प्रतिपाल कियो अरु देश मुलुक्क दियो दल भारी।
सो सुत बैर बुझै मनमें धरि हाय दियो बँधसारमें डारी।
शाहजहाँ बिनवै हरिसों बलि राजिवनैन रजाय तिहारी॥

औरंगजेब तो नहीं, पर उसकी पुत्री शाहजादी ज़ेबुन्निसा बेगमके हिन्दीमें कविता करनेका पता लगता है। कहते हैं कि "नैन-विलास" कविता-ग्रन्थ की कर्त्री ये ही हैं। इस ग्रन्थका अन्तिम दोहा इस प्रकार बताया जाता है:—

ज़ेबुन्निसा जहानमें, दुख्तर आलमगीर।
नैन विलास विलासमें, ख़ास करी तहरीर॥

इनके सिवा और भी कितने ही मुसलमान हिन्दी कवि हो गये हैं, जिनमें दीवान सैयद रहमतुल्ला, सैयद गुलाम नबी "रसलीन", मीर अब्दुल वाहिद "ज़ौक़ी", मुहम्मद आरिफ़, मीर अब्दुलजलील "जलील", सैयद निज़ामुद्दीन "मधुनायक" और सैयद बर्कतुल्ला "प्रेमी" विशेष उल्लेखनीय हैं।

भिखारीदास रसनिधिके समसामयिक थे, क्योंकि इनका जन्म संवत् १७५५ विक्रमी है। इस हिसाबसे ये अकबरके कोई सवा सौ वर्ष बाद हुए हैं। इनके समयमें अरबी फ़ारसी शब्द हिन्दी कवितामें स्वच्छन्दतासे प्रयुक्त होते थे, परन्तु कभी कभी बड़े कठिन शब्दोंका प्रयोग कर दिया

जाता था। इसलिये इन्होंने अपने "काव्यनिर्णय" ग्रन्थमें अति सरल फ़ारसी शब्दोंके व्यवहारकी व्यवस्था दे दी थी। इनका कहना था :—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति सुगम जु होय॥

इसके बाद एक मिश्रित भाषा ही तैयार हो गयी, जिसमें हिन्दीकी अंगभूत भाषाओंके साथ अरबी फ़ारसी मिलायी जाती थी। इस विषयमें एक दूसरे कविका कथन है :—

अन्तरवेदी नागरी, गौड़ी पारस देश।
अरु अरबी जामैं मिलैं, मिश्रित भाषा भेश॥

इसलिये हिन्दीमें अरबी फ़ारसी शब्द बेरोक-टोक चल पड़े थे। इसका कारण यह था कि राज्य मुसलमानोंका था और हिन्दुओंने नौकरी चाकरीके लिये फ़ारसी अरबी सीख ली थी। इच्छा वा अनिच्छापूर्वक अनेक शब्द भाषामें लोग चला रहे थे और इसलिये कवितामें अनुप्रास और यमकके लिये इनका प्रयोग उचित प्रतीत होता था। इस प्रकार हिन्दी खिचड़ी भाषा बनने लगी।

हिन्दी और उर्दू

अमीर ख़ुसरोने अपनी ख़ालिक़बारी और पहेलियोंमें जिस भाषाको हिन्दी या हिन्दवी कहा है, वह उत्तर भारतके बड़े भारी भागकी भाषा थी। नागरिकोंकी बोलचाल और लिखा-पढ़ीमें यही काम आती थी, इसलिये यह रेख़्ता या पुष्ट भाषा कहाती थी। यह रेख़्ता शब्द भी फ़ारसीका ही है। शम्सउल-उलेमा मौ० मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद मरहूम फ़र्माते हैं—"इस ज़बानको रेख़्ता भी कहते हैं, क्योंकि मुख़्तलिफ़ (भिन्न भिन्न) ज़बानोंने इसे रेख़्ता किया है। जैसे दीवारको ईंट, मिट्टी, चूना, सफ़ेदी वग़ैरहसे पुख़्ता करते हैं या यह कि रेख़्ताके मानी हैं गिरी पड़ी परेशान चीज़। क्योंकि इसमें अल्फ़ाज़ परेशान जमा हैं, इसलिये इसे रेख़्ता कहते थे।" (आबे हयात् पृष्ठ २१)

फ़ैलनने इस शब्द का अर्थ लिखा है—"मर्दोंकी हिन्दुस्तानी बोली।"[१] परन्तु बेटका कहना है कि "हिन्दुस्तानी भाषा, मिश्रित होनेके कारण रेख़्ता कहाती है।"[२]

मुँशी दुर्गाप्रसाद नादिर "खज़ीनतुल उलूम"में लिखते हैं कि "रेख़्ता बमानी गिरे हुएके हैं, पस जो ज़बान अपनी असलियतसे गिर जाय उसको 'ज़बान-रेख़्ता' बोलते हैं; चुनाँचे जैसे फ़ारसी ज़बानमें अरबीके लुग़त शामिल हुए, इसे ज़बान रेख़्ता-फारसी कहते हैं। इसी तरह ज़बान रेख़्ता-हिन्दीको ज़बान उर्दू समझते हैं।" (पं० पद्मसिंह शर्मा कृत "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी")

---

१. The Hindustani language as spoken by men (Fallon).

२. The Hindustani language (being a mixed one) is called REKHTA (Bate).

फ़ैलनने रेख़्तीकी[1] भी चर्चा की है और उसका अर्थ बताया है—"स्त्रियोंके सुरों और मुहावरोंमें उनके विशेष प्रकारके भावों और विशेषताओंसे युक्त लिखी हुई हिन्दुस्तानी कविता।" रेख्ता एक प्रकारका छन्द भी होता है और कबीरने बहुतसे रेख्ते लिखे भी हैं। रेख्ती यदि स्त्रियोंकी कविताकी भाषा हो, तो पुरुषों की कविताकी भाषाको रेख्ता कहना अनुचित नहीं है। यही नहीं, उर्दू कवियोंने हिन्दी अर्थमें रेख़ता शब्दका प्रयोग भी किया है; जैसे—"शेर बेमानीसे बिहतर है तो कहना रेख्ता" (आवेहयात पृष्ठ २१) अभिप्राय यह है कि फ़ारसीमें जो लोग अर्थरहित शेर लिखते हैं, उससे बिहतर है कि वे रेख्ता कहें अर्थात् हिन्दीमें कविता करें। स्व० पण्डित पद्मसिंह शर्माने अपने "हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी" शीर्षक व्याख्यानमें लिखा है—"'रेख्ता' शब्दका प्रयोग सबसे पहले 'सादी' दक्खिनीके कलाममें मिलता है, जो 'वली' दक्खिनीसे पूर्व, आदिलशाह अव्वलके समय (सन् १५८६ ई०) में हुआ है। बादको दूसरे कवि लेखकोंने भी रेख्तेका प्रयोग अधिकतासे किया है। मीर तक़ी मीरने अपने 'तज़करे निकातुश्शोरा'-में और 'क़ायम' चाँदपुरीने 'मखज़ने-निकात'में बार-बार उर्दू नज़्म (कविता) के लिये 'रेख्ता' ही लिखा है।" (पृष्ठ २१।२२) रेख्तेसे पद्यकी भाषा ही पहले समझी जाती थी। लल्लूलालजीने भी प्रेमसागरकी भाषाको रेख्तेकी बोली कहा है।

अब इसमें सन्देह नहीं कि यही रेख्ता (खुसरोकी हिन्दी या हिन्दवी) वर्त्तमान हिन्दी और उर्दूकी जड़ है, जो आर्य-अपभ्रंश प्राकृतसे उत्पन्न हुई है। इसका हिन्दू नाम अंतर्वेदी नागरी था, क्योंकि गङ्गा-यमुनाके अन्तर्वेद या दोआबेमें बसे हुए नागरिकों या शहरी लोगोंकी यह भाषा थी। उस समय हिन्दू लोग इसे साहित्य-रचनाके काममें नहीं लाते थे सही, पर यह

---

१. Hindustani verse written in the tones and idioms of women with their peculiar sentiments and characterestics (Fallon).

सकल बोधगम्य (आमफ़हम) थी और हिन्दू-मुसलमान दोनो इसे बोलते थे। जब मुसलमान इस देशमें आये, तब उन्हें अपनी भाषामें इसकी पुट दे देकर काम चलाना पड़ा। साथ ही जब मुसलमानी राज इस देशमें जम गया और अरबी, फारसी, तुर्की आदि मुसलमानी भाषाओंके बहुतसे शब्द भाषामें आ गये और हिन्दुओंने भी फारसी पढ़ पढ़कर उनके शब्दोंका प्रयोग अपनी भाषामें प्रारम्भ किया, तब एक मिश्र भाषा बन गयी। आबे-हयातमें लिखा है कि "पन्द्रहवीं सदीमें सिकन्दर लोदीके ज़मानेमें कायथ फ़ारसी पढ़कर शाही दफ्तरमें दाखिल हुए और अब इन लफ़ज़ोंको उनकी ज़बानोंपर आनेका ज़्यादा मौक़ा मिला।"

हिन्दुओंमें फ़ारसीकी शिक्षा बढ़ जानेके कारण अथवा किसी अन्य विचारसे सं० १६३८ अथवा सन् १५८१ में राजा टोडरमलने महकमा मालके दफ्तर हिन्दीके बदले फारसीमें कर दिये। स्वर्गवासी मुँशी देवीप्रसाद मुन्सिफ़की इस बातका समर्थन प्रोफ़ेसर ब्लॉकमैन भी करते हैं। इन्होंने "कैलकटा रिव्यू" में लिखा था कि इस समयतक मालगुजारीके महकमेके सब कागजात—दस्तूर उल-अमल हिन्दीमें थे, पर राजा टोडरमलके हुक्मसे सब फारसीमें कर दिये गये। टोडरमल भी भाषामें कविता करते थे, इसलिये हिन्दीका अहित करनेके लिये उन्होंने फ़ारसीका प्रवेश कराया, यह तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" कहावत चरितार्थ हुई। शाही दरबारमें हिन्दीके बदले फ़ारसीका बोलबाला हो गया। हिन्दीका गौरव न रहा। यद्यपि इसमें कविता होती रही और मुसलमान कवि और सम्राट् भी कविता करते रहे, तथापि इसकी कदर न रही। इससे जो हानि हुई यदि उसकी कल्पना टोडरमलको होती, तो देशकी यह भयंकर हानि न होती। परन्तु विचार करके जैसे और बहुतसे काम नहीं किये गये वैसे ही यह भी नहीं किया गया।

खालिकबारी और पहेलियाँ आदि खसरोने फारसी अक्षरोंमें ही लिखी थीं। और तो क्या, पद्मावतकी जो प्रति मिली, वह भी फारसी अक्षरोंमें

ही मिली। चन्द्रशेखर बाजपेयीका "हम्मीरहठ" काव्य भी फारसी अक्षरोंमें ही मिला। इससे जान पड़ता है कि मुसलमान हिन्दी तो लिखते थे, पर फारसी अक्षरोंमें। इसके प्रमाणमें हम खुसरोकी यह पहेली पेश करते हैं :—

अन्धा गूंगा बहरा बोले, बहरा आप कहाये।
देख सफ़ेदी होय अँगारा, गूंगेसे भिड़ जाये॥
बाँसका मन्दिर वाका बासा, बाशेका वह खाजा।
संग मिले तो सिरपर राखें, वाको राव और राजा॥
सीसी करके नाम बताया, तामें बैठा एक।
उलटा सीधा हिर फिर देखा, वही एकका एक॥
भेद पहेली मैं कही, तू सुन ले मेरे लाल।
अरबी हिन्दी फ़ारसी, तीनो करो खयाल॥

यह लालकी पहेली है। हिन्दी, अरबी और फारसीमें लाल किस किसको कहते हैं, यह जाने बिना इसका अर्थ नहीं हो सकता। अरबीमें लाल सुर्खको कहते हैं और फ़ारसीमें गूँगेबहरेको। हिन्दीमें एक छोटीसी चिड़िया लाल कहाती है। यह पिंजरेमें रहती है और पिंजरा बहुधा बांसका बनता है, इसलिये कवि इस लालके घरको—बासेको बाँसका मन्दिर बताता है। फिर बाशा छोटे बाजको कहते हैं। यह लालको मारकर खा जाता है, इसीसे उसे बाशेका खाजा-खाद्य बताया। चूँकि लाल-मानिक रत्न होता है, इसलिये रावराजाओंके मुकुटोंमें रखा जाता है। सीसी करनेसे मुँहसे लाल-लाला या राल टपकती है, इससे वह भी लाल हुई और लाल हिन्दीमें बच्चेको भी कहते हैं। इस प्रकार हिन्दीमें लालके चिड़िया, मानिक, लाला (लार) और बच्चा ये चार अर्थ हुए। फारसी और अरबीमें एक ही एक अर्थ हुआ। परन्तु जो सबसे मार्केकी बात कविने कही है; वह यह है कि उलटा सीधा चाहे जैसे पढ़ो, वह लाल ही रहेगा। यदि खुसरोने यह पहेली हिन्दीमें लिखी होती तो, यह बात कैसे होती? फारसी अक्षरोंमें, लाम 'ऐन' और "लाम" लिखनेसे लाल बनता है। क्योंकि आगे पीछे लाम और

बीचमें ऐन है। हिन्दीमें "लाल" को उलटकर पढ़े तो लला हो जाय। फ़ारसी अक्षरोंमें हिन्दीके इस तरह लिखे जानेसे ही उर्दू महावृक्षका बीजारोपण किया गया।

दिल्लीके मीर अम्मनने १८०२ में फ़ोर्ट विलियम कॉलेजके कप्तान गिलक्रिस्तके आदेशपर अपनी जो प्रसिद्ध पुस्तक "बाग़ो बहार" नामसे लिखी थी, उसके दोबाचे (भूमिका) में उन्होंने अपनी समझसे उर्दूका इतिहास दिया है। वे लिखते हैं:—

"हक़ीक़त उर्दू ज़बानकी बुज़ुर्गोंके मुँहसे यूँ सुनी है कि दिल्ली शहर हिन्दुओंके नज़दीक चौजुगी है। वहां राजा, परजा क़दीमसे रहते थे और अपनी भाखा बोलते थे। हजार बरससे मुसलमानोंका अमल हुआ। सुलतान महमूद गज़नवी आया। फिर ग़ोरी और लोदी बादशाह हुए। इस आमदोरफ़्तके बाइस कुछ ज़बानोंने हिन्दू मुसलमानकी आमेज़िश पायी। आख़िर अमीर तैमूरने......हिन्दुस्तानको लिया। उनके आने और रहने से लश्करका बाज़ार शहरमें दाखिल हुआ। इस वास्ते शहरका बाज़ार उर्दू कहलाया।......जब अकबर बादशाह तख़्तपर बैठे, तब चारों तरफके मुल्कोंसे सब क़ौम क़द्रदानी और फ़ैजरसानी उस ख़ान्दान लासानीकी सुनकर हुज़ूरमें आकर जमा हुए। लेकिन हरेककी गोयाई और बोली जुदा जुदा थी। इकट्ठे होनेसे आपसमें लेन-देन, सौदा सुल्फ़, सवाल जवाब करते एक ज़बान उर्दूकी मुक़र्रर हुई।"

मीर अम्मनके अनुयायी उनसे भी आगे बढ़ गये और कहने लगे कि इसका नाम रेख़्ता शाहजहाँके जमानेमें मुसलमान कवियोंने रखा था।

अब इतिहासके प्रकाशमें इस वक्तव्यको देखिये। हम देख चुके हैं कि अकबर या मुगलों का जब पता भी न था और उनसे शताब्दियों पहले अमीर खुसरोने ऐसी भाषामें रचना की थी जो रेख़्ता या उर्दूसे भिन्न नहीं है और जिसे वे हिन्दी या हिन्दवी कहते थे। अकबर सन् १५५६ में तख़्तनशीन हुआ और शाहजहाँने १६२७ से १६५८ तक राज किया। पर अमीर खुसरो अकबर और शाहजहाँके जन्मके बहुत पहले ही सन् १३२५

में कूच कर गये और खुसरोकी भाषा यदि वलीसे बेहतर नहीं, तो वैसी ही है। खुसरोके बाद कबीरका नम्बर है। ये १३९८ में काशीमें पैदा हुए थे। विद्वत्ताकी दृष्टिसे खुसरो और कबीरकी तुलना नहीं हो सकती, पर ये बड़े सन्त थे और प्रादेशिक बोलियोंमें ही नहीं, हिन्दीमें भी भली भांति अपने विचार प्रकट कर सकते थे। इन्होंने पद और साखियाँ ही नहीं लिखीं, रेख्ते भी लिखे, जिससे सिद्ध है कि उस समय रेख्ता शब्द प्रचलित था। उनके कुछ पद्य ये हैं:—

दुखमें सुमिरन सब करै, सुखमें करै न कोय।
जो सुखमें सुमिरन करै, तो दुख काहेको होय॥
यह तो घर है प्रेमका, खालाका घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं॥
पाया कहैं ते बावरे, खोया कहैं ते कूर।
पाया खोया कुछ नहीं ज्योंका त्यों भरपूर॥
सूरा सोइ सराहिये, लड़ै धनीके हेत।
पुर्जा पुर्जा कटि मरै, तऊ न छाँड़ै खेत॥

बनारसी बोलीमें

अँधियरवामें ठाढ़ि गोरी का करलू॥ टेक॥
जब लगि तेल दियामें बाती,
येहि अँजोरवा बिछाय घलतू।
मनका पलँग सन्तोष बिछौना,
ज्ञान तकिया लगाय रखतू॥
जरि गया तेल, बुझाई गई बाती,
सुरतमें सुरत समाय रखतू।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो,
जोतियामें जोतिया मिलाय रखतू॥

रेख़्ता

बिना बैराग कहु ज्ञान केहि कामका,
पुरुष बिनु नारि नहिं सोम पावै।
स्वाँग तो साहुका काम है चोरका,
कपटकी झपटमें बहुत धावै ॥१॥
बात बहुत कहै झूठ छूटै नहीं,
मुखके कहे कहा खांड़ खावै।
कहै कबीर जब काल गढ़ घेरिहै,
बात बहु बकै सब भूलि जावै ॥२॥

हीरा पायो गाँठ गठियायो, बार बार वाको क्यों खोलै ॥१॥
हल्की थी जब चढ़ी तराज़ू, पूरी भई तब क्यों तोलै ॥२॥
सुरत कलारी भइ मतवारी, मदवा पी गई बिन तोलै ॥३॥
हंसा पाये मानसरोवर, ताल तलैया क्यों डोलै ॥४॥
तेरा साहिब है घट माहीं, बाहेर नैना क्यों खोलै ॥५॥
कहै कबीर सुनो भइ साधो, साहिब मिल गये तिल ओलै ॥६॥

कबीरके बाद नानक हैं। इनका जन्म कबीरसे ७१ वर्ष बाद सन् १४६९ में हुआ था और इन्होंने ऐसी भाषामें लिखा जो पञ्जाबीकी कुछ पुट होनेपर भी खड़ीबोली या रेख़्ता ही है। इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य है :—

इस दमदा मैंनू की बेभरोसा,
आया आया न आया न आया।
या संसार रैनदा सुपना,
कहीं दीखा कहिं नाहिं दिखाया ॥
सोच विचार करै मत मनमें,
जिसने ढूँढ़ा उसने पाया।
नानक भगतनके पद परसे,
निस दिन रामचरन चित लाया।

यदि रेख़्ता खड़ी बोलीका नाम न होता, तो कबीर इस शब्दका प्रयोग न कर सकते। इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि यद्यपि फ़ारसीके कवियोंने हिंदीको रेख़्ता नाम दिया था, तथापि यह घटना शाहजहाँके नहीं, सम्भवतः सिकन्दर लोदीके जमानेकी है, जब कायस्थोंने फ़ारसी पढ़ना आरम्भ किया था।

यह रेख़्ता जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, फ़ारसी अक्षरोंमें मुसलमानों द्वारा लिखी जाती थी और हिंदुओंके लेख हिंदी अर्थात् नागरी अक्षरोंमें होते थे। जिन मुन्शी नौनिधरायकी "दस्तूरे सूबियाँ" और "मसदर फ़यूज़" किताबें मकतबोंमें फ़ारसी आरम्भ करनेवालोंको पढ़ायी जाती थीं, उन्होंने मसदर फ़यूज़की अपनी भूमिकामें स्पष्ट ही उर्दूको हिन्दी कहा है। वे कहते हैं :—

करूँ बाद इसके बहिन्दी ज़बाँ।
कई क़ायदे फ़ारसीके बयाँ॥

उर्दू कविताके प्रसिद्ध मुसलमान रचयिताओंने उर्दूको हिंदी या रेख़्ता ही कहा है। जैसे :—

क्या जानूँ लोग कहते हैं किसको सरूरे क़ल्ब।
आया नहीं है लफ्ज़ यह हिन्दी जबाँके बीच॥ (मीर)
मतलबकी मेरे यार न समझे तो क्या अजब।
सब जानते हैं तुर्ककी हिन्दी ज़बाँ नहीं॥ (आतिश)

एल्लोरके बाक़र आगाहके "दीवाने हिन्दी" के सिलसिलेमें मि० मुहम्मद अब्दुल क़ादिर सरवरी एम० ए०, एल०-एल० बी० लिखते हैं :—

"दीवानके सरवरक़ (मुखपृष्ठ) पर और ख़ुद अशयारमें (शेरोंमें) भी कहीं कहीं 'हिन्दी' ही का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया गया है। ताहम यह मालूम रहे कि इससे मुराद उन शाइरोंकी उर्दू होती थी, क्योंकि वह उर्दूको हिन्दीसे कोई जुदा चीज़ नहीं समझते थे।"

वे आगे चलकर कहते हैं:—

"हिन्दी या हिन्दवी इसका क़दीमतरीन नाम था। उर्दू और दखनीके लिये भी यह लफ़्ज़ बिला तकल्लुफ़ इस्तेमाल होता था, गोया 'उर्दू', 'हिन्दी' और 'दखनी' एक ही ज़बानके मुख्तलिफ़ नाम थे।......इस ज़बानकी शाइरी रेख़्ता कहलाती थी।"—रिसाला उर्दू अप्रेल १९२९।

लाहौरकी ओरियंटल कानफरेन्सके अध्यक्ष मौलाना हबीबुर रहमान साहब अपने भाषणमें फरमाते हैं:—

शाहजहाँके शासन-कालमें इस भाषाका नाम उर्दू था, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। और समीपकी बात सुनिये। सन् १८०५ ई० में सैयद मुहम्मद हैदरी "दह मजलिस" नामक एक पुस्तककी भूमिकामें लिखते हैं:—

अब तक फारसी ग्रंथोंका अनुवाद हिंदी गद्यमें नहीं हो पाया।

इतना ही नहीं सन् १८१६ में सर विलियम केरी नामक अंगरेज विद्वान लिखते हैं:—

हिंदी मुसलमान (हिन्दुस्तान?) की अदालती भाषा है। यह छावनियोंमें भी बोली जाती है। मुसलमान शासकोंकी राजधानियोंमें भी इसका अव्याहत प्रचार तथा व्यवहार है।

२८ जुलाई १८३६ तक उर्दू नहीं, 'हिंदी' 'कोर्ट लेंग्वेज' (अदालती जबान) मानी गयी है, इसके पुष्ट प्रमाण हैं।

हिंदी और उर्दूका प्रश्न इस देशमें क्यों उठ खड़ा हुआ और उसके कारण इन दोनों भाषाओंके समर्थकोंके मध्य मतभेदकी दीवार कैसे खड़ी हो गयी, इसपर महाकवि हालीकी नीचे लिखी पंक्तियाँ पढ़ने लायक हैं। उन्होंने रोगका कैसा उचित और उपयुक्त निदान किया है और कैसी अमोघ औषधि बतलायी है। महाकवि लिखते हैं:—

"कौन नहीं जानता कि मुसल्मान बावजूदे कि तक़रीबन एक हजार बरससे हिंदुस्तानमें आबाद हैं, मगर इस तवील मुद्दतमें इन्होंने चंद मुस्तस्निफ़ातको छोड़कर कभी संस्कृत या व्रजभाषा (हिंदी) की तरफ़ बावजूद

सख्त ज़रूरतके आंख उठाकर भी नहीं देखा। जिस संस्कृतको यूरोप के मुहक़्क़िक़ लातनी व यूनानीसे ज्यादा फ़सीह ज़्यादा बसीह और ज़्यादा बाक़ायदा बताते हैं, और जिसकी तहक़ीक़ातमें उम्र बसर कर देते हैं, मुसलमानोंने आम तौरपर कभी उसको क़ाबिले इल्तिफ़ात नहीं समझा। अगर यह कहा जाय कि संस्कृतका सीखना कोई आसान काम नहीं है, तो ब्रजभाषा (हिंदी) तो बमुक़ाबले संस्कृतके निहायत सहलुलहुसूल (सुलभ) है और उसकी शायरी निहायत लतीफ़ शिगुफ़्ता और फ़साहत बलाग़तसे लबरेज़ है, उसको भी अमूमन बेगानावार नज़रोंसे देखते रहे हैं। हालांकि जो उर्दू नको इस क़दर अज़ीज़ है, उसकी ग्रामरका दारोमदार बिलकुल ब्रजभाषा (हिंदी) या संस्कृतकी ग्रामरपर है....

"सच तो यह है कि मुसलमानोंका हिंदुस्तानमें रहना और संस्कृत या कमसे कम ब्रजभाषा (हिंदी) से बेपरवाह या मुतनफ़्फ़िर होना बिलकुल अपने तईं इस मसलका मुसताक बनाना है कि दरियामें रहना मगरमच्छसे बैर।

"जो शख्स उर्दूका अदीब और मुहक़्क़िक़ होना चाहता है, उसे संस्कृत या कमसे कम हिंदी भाषाका जानना ज़रूरी है।

"उर्दू लुग़ातमें हिंदीके वे अलफ़ाज़ जो आम बोलचालमें आते हैं या जो हमारी ज़बानमें खप सकते हैं बिला तकल्लुफ़ कसरतसे दाख़िल करना चाहिये। खुद अपनी नज़्मो नसरमें वे हिंदी अलफ़ाज ऐसी खूबसूरतीसे लिखे जाते थे कि यह मालूम होता था कि गोया इसी मौकेके लिये वज़अ हुए हैं। उन्होंने बहुतसे हिंदी अलफ़ाज़ उर्दू अदबमें दाख़िल किये जो हमारी नज़रसे ओझल थे और जिन्हें किसी उर्दूवालेने इस्तेमाल न किया था। उर्दूपर क़ुदरत हासिल करनेके लिये यह भी ज़रूरी है कि हिंदीमें फ़िल जुमला दस्तगार बहम पहुँचायी जाए। उर्दूकी बुनियाद जैसा कि मालूम है, हिंदी भाषापर रखी गयी है। इसके तमाम अफ़आल और तमाम हरूफ़ और ग़ालिब हिस्सा इसका हिंदीसे माखूज़ है।......उर्दू ज़बानका शाइर जो हिंदी भाषा मुतलक़ नहीं जानता और महज़ अरबी फ़ारसीकी

तानपर गाड़ी चलाता है वह गोया अपनी गाड़ी बगैर पहियोंके मंज़िले मक़सूदतक पहुँचाना चाहता है।"

दूसरे साहित्यमहारथी शम्सुल उलेमा मौलाना इमदाद इमाम साहिब 'असर' की राय पढ़िये। वे कहते हैं :—

उर्दूकी मौजूदा शायरी फ़ारसीकी शायरीके साथ बहुत मुशाबेहत रखती है। इसका सबब यह है कि उर्दूके शोअरा फ़ारसीके शोअराका हमेशा ततब्बो (आदेश पालन) करते रहे हैं। हालांकि तक़ाज़ाए मुल्क यह था कि उर्दू की शायरी संस्कृतकी शायरीका अंदाज़ पैदा करती। ऐसी सूरत में उर्दूकी शायरीका दायरा बहुत वसीअ हो जाता। मगर इस अदम तवज्जोका सबब यह मालूम होता है कि अक्सर उर्दूके शोअरा ज़बाने संस्कृतसे वाक़फ़ियत नहीं रखते थे और चूँकि अरबी या फ़ारसीमें महारत रखते थे, इसलिये उसी ज़बानकी तबीयत थी। काश! शोअराए उर्दू संस्कृतकी शायरीसे मुत्तला होकर उसका चरबा (अनुकरण) उतारते तो असनाफ़े शायरीमें उर्दूका दर्जा बढ़ जाता। मसलन ड्रामानिगारी जो फ़ारसीमें नहीं उर्दूमें दाख़िल हो जाती और ड्रामानिगारीके दाख़िल हो जानेसे उर्दूकी शायरी बिलाशुबा मुमताज़ हो जाती। फ़ारसीकी तरह अरबीमें भी रामायण जैसी मबसूत (विस्तृत) किताबें नहीं, इसलिये अरबीको भी इस बहससे ख़ारिज समझना चाहिये।

महाकवि मिर्ज़ा ग़ालिब भी उर्दू और हिंदीको एक ही समझते थे। उनकी रायमें हिंदीका ही दूसरा नाम उर्दू था। और इसीलिये उन्हें उर्दूको हिंदी कहनेमें कभी संकोच नहीं हुआ। नीचे उनकी एक चिट्ठी उद्धृत की जाती है, जो उन्होंने अपने शिष्य मुन्शी हरगोपाल तुफ्ता को लिखी थी—

बन्दापरवर,

तुमको पहले यह लिखा जाता है कि मेरे क़दीम मीर मुकर्रमपेश हुसेन साहबकी ख़िदमतमें मेरा सलाम कहना और यह कहना कि अब तक जीता हूँ। और इससे ज़्यादा मेरा हाल मुझको भी नहीं मालूम . . . . . मेरा हाल अब यह है कि शेर कहनेकी रविश और अगले कहे हुए अशआर सब

भूल गया। मगर हां अपने हिंदी कलाममेंसे डेड़ शेर यानी एक मकता और एक मिसरा याद रह गया है, सो गाहे बगाहे, जब दिल उलटने लगता है, तब दस-पांच बार यह मकता ज़बान पर आ जाता है—

ज़िंदगी अपनी जो इस तौर से गुज़री ग़ालिब—
हम भी याद करेंगे कि ख़ुदा रखते थे।

फिर जब सख़्त घबराता हूँ और तंग आता हूँ तो यह मिसरा पढ़कर चुप हो जाता हूँ—ऐ मर्गे नागहां तुझे क्या इन्तज़ार है।

मिर्जा गालिबने उपर्युक्त पत्रमें अपनी कविताको हिन्दी कलाम कहा है, उर्दू नहीं कहा।

इस प्रकार एक ही भाषा लिपिकी भिन्नताके कारण हिन्दी और उर्दू कहाती थी और ज्यों ज्यों समय बीतता गया, हिन्दीका उर्दू रूप साधारणतः फारसी से पुष्ट हुआ और अन्तमें उर्दू बिलकुल जुदा भाषा ही बन गयी। यदि एक ही लिपि होती तो हिन्दी और उर्दूके पक्षपातियोंका अप्रिय झगड़ा न उठ खड़ा होता। यहाँ यह विचारना अनुचित न होगा कि अन्य प्रदेशोंकी भाषाओं—विशेषकर गुजरात और सिन्धकी भाषाओंपर भी फारसीका प्रभाव पड़नेपर भी वहाँ एक ही भाषा रही और दूसरी भाषा उत्पन्न न हुई। गुजराती भाषा गुजरातकी है। गुजरातियोंमें हिन्दू और मुसलमान ही नहीं, पारसी भी हैं। पारसियोंकी बोली और लिखावटमें फ़ारसी शब्दोंका प्रयोग बहुतायतसे होता है और गुजराती साहित्यिकोंको शिकायत है कि पारसियोंकी भाषा और वर्ण-विन्यास (हिज्जे) दोषपूर्ण हैं। हिन्दू-गुजराती और पारसी-गुजरातीमें कुछ कुछ हिन्दू-हिन्दी और मुसलमानी हिन्दीका-सा ही अन्तर है, परंतु लिपि दोनोकी एक ही होनेके कारण यह अंतर दृष्टि-गोचर नहीं होता और वहाँ एक ही भाषा है।

सिंधीकी अवस्था विलक्षण है। उसकी कोई अपनी वर्णमाला नहीं है और वह अरबी अक्षरोंमें लिखी जाती है। पर यह मजेकी बात है कि अक्षरोंके ऊपर नीचे नुक्ते या बिंदीके बहुल प्रयोग द्वारा इन अरबी अक्षरोंमें संस्कृत अक्षरोंके उच्चारण बना लिये गये हैं। हिंदू और मुसलमान दोनो

एक ही भाषा बोलते हैं और यदि सिंधी भाषाकी कोई आर्य लिपि होती तो सिंधमें भी हिंदू मुसलमानोंमें भाषा संबंधी झगड़ा खड़ा होता।

हिंदी उर्दूमें लिपिका तो मुख्य भेद है ही, परंतु जो विशेष विचारणीय बात है वह यह है कि उर्दू, फ़ारसी वा इस्लामी संस्कृतिके हिमायतियों और हिंदी आर्य वा भारतीय संस्कृतिके अनुयायियोंके लिये लिखी जाती है और तदनुसार दोनोंमें स्वदेशी वा विदेशी भाषाओं और भावोंकी पुट रहती है। इसीलिये राजा लक्ष्मणसिंहने लिखा है कि "हमारे मतमें हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिन्दी इस देशके हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँके मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओंकी बोल-चाल है। हिन्दीमें संस्कृतके पद बहुत आते हैं, उर्दूमें अरबी फारसीके।"[१]

भाषामें संस्कृत, तद्भव तथा देशज शब्दों अथवा अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दोंकी न्यूनाधिकताका कारण भी यही है। हिन्दू मुसलमानोंकी साधारण बोलचालकी भाषा एक ही है। देहातोंमें रहनेवाले मुसलमान तो हिन्दुओंकी तरह ग्राम-भाषाओंका व्यवहार करते ही हैं। परन्तु साहित्यिक भाषाएँ हिन्दू मुसलमानों की अलग अलग हैं और इसीलिये दोनोंमें सन्निकटताके बदले दूरता बढ़ती जा रही है। दोनोके फिर एक होनेकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि कुछ तो आवश्यकता और बहुत अधिक मनोवृत्ति अलगके ही पक्षमें है। एक अंगरेज विद्वान् जॉन बीम्स कहते हैं:— "हिन्दीके साधारण शीर्षकके अन्तर्गत बहुतसी बोलियाँ हैं, जिनमें कुछ एक दूसरीसे बहुत भिन्न हैं, यद्यपि इतनी भिन्न नहीं हैं कि उनके अलग भाषा मानी जानेके अधिकारपर विचार किया जा सके। इस बड़े क्षेत्र-भरमें, यद्यपि बोलियोंमें बहुत अन्तर है, एक समान सार्वत्रिक भाषाका रूप स्वीकृत किया गया है और सब शिक्षित जन उसका व्यवहार करते हैं। इस समान भाषाका उद्गम प्राचीन राजधानी दिल्लीके आसपास कहीं जान पड़ता है और हिन्दीका जो रूप उसके आसपास बोला जाता था धीरे धीरे

---

१. रघुवंशके गद्य हिन्दी अनुवादकी भूमिका सन् १८७८।

भाषाके नये स्वरूपका आधार हुआ, यद्यपि संज्ञापद और क्रियापद सर्वथा विशुद्ध हिन्दीके रहे और बहुतेरे साधारण शब्द रखे गये, तथापि बहुतसे फारसी, अरबी और तुर्की शब्दोंको भी उसी प्रकार स्थान मिल गया, जैसा अंगरेजीमें लैटिन और ग्रीक शब्दोंको। ऐसे शब्दोंसे किसी प्रकार भी भाषाका रूप नहीं बदला और न उसपर कोई प्रभाव ही पड़ा। भाषाके विभक्ति आदि विकारों और ध्वनितत्त्वोंपर ध्यान देनेसे वह वैसी ही विशुद्ध आर्य भाषा वली और सौदाकी रचनाओंमें है, जैसी तुलसीदास और बिहारी-लालकी। इसलिये हिंदी और उर्दूको दो अलग अलग भाषाएँ कहना मूलतः विषय और निरुक्तशास्त्रको ठीक ठीक न समझना है। जब कुछ आन्दोलक कहते हैं कि हिन्दुस्तानमें अँगरेजी न्यायालयोंकी भाषा उर्दू न होकर हिन्दी हो, तो उनका अभिप्राय यह होता है कि देशी लेखक और मुहर्रिर भाषामें बहुतसे अरबी फारसी शब्द लानेसे रोके जायं और वे शुद्ध संस्कृत तद्भवों का व्यवहार करें जिनकी हिंदीमें बहुतायत है। सब प्रकारसे ऐसा ही हो पर यह न कहना चाहिए कि उर्दू हिन्दीसे भिन्न भाषा है।

१ इस बातके कहनेका सबसे अच्छा ठीक ढंग है 'हिंदीकी उर्दू बोली' वा हिन्दीका उर्दू रूप। उर्दूमें आर्य शब्दोंके बिना एक भी वाक्य लिखना नितान्त असम्भव है, तथपि ऐसे बहुत से वाक्य लिखे जा सकते हैं जिनमें एक भी फारसी शब्द न आवे।[१]

Under the general head of Hindi are included many dialects, some of which differ widely from one another, though not so much so as to give them the right to be considered separate languages. Throughout the whole of the vast region, though the dialects diverge considerably, one common universal form of speech is recognised and all educated persons use it. This common dialect had its origin apparently in the country round Delhi the ancient

इस विषयमें शम्सुल उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसैन साहब आज़ाद फरमाते हैं :—

"उर्दूका दरख्त अगर्चे संस्कृत और भाषाकी ज़मीनमें उगा, मगर फ़ारसीकी हवामें सरसब्ज़ हुआ है। अलबत्ता मुश्किल यह हुई कि बेदिल और नासिरअलीका ज़माना क़रीब गुज़र चुका था और उनके मोतक़िद (अनुयायी) बाक़ी थे। वे इस्तयारों (रूपकों) और तशबीह (उपमा) के लुफ्तमें मस्त थे। इस वास्ते गोया उर्दू भाषामें इस्तयारों और तशबीह-का रंग भी आया और बहुत तेज़ीसे आया। यह रंग अगर उसी क़दर

---

capital, and the form of Hindi spoken in that neighbourhood was adopted by degrees as the basis of the new phase of the language though the inflections of nouns and verbs remained purely and absolutely Hindi and a vast number of commonest vocables were retained, a large quantity of Persian and Arabic and even Turkish words found a place, just as Latin and Greek words do in English. Such words however in no way altered or influenced the language itself which, when its inflectional or phonetic elements are considered remains still a pure Aryan dialect, just as pure in the pages of Wali and Sauda or as it is in those of Tulsidas or Beharilal. It betrays therefore a radical misunderstanding of the whole bearings of the question and of the whole science of philology, to speak of Urdu and Hindi as two distinct languages. When certain agitators cry out that the language of the English courts of law in Hindustan should be Hindi and not Urdu, what they mean that clerks and native writers should be restricted from importing too

आता कि जितना चेहरेपर उवटनका रंग या आँखोंमें सुर्मा तो खुशनुमाई (देखने) और बीनाई (ज्योति) दोनोको मुफ़ीद था। मगर अफ़सोस कि उसकी शिद्दतने (अधिकताने) हमारी क़ुव्वत बयानकी (वर्णन करनेकी शक्तिकी) आँखोंको सख्त नुक़सान पहुँचाया और ज़बानको ख़याली बातोंसे फ़क़त तोहम्मातका स्वाँग बना दिया। नतीजा यह कि भाषा और उर्दूमें ज़मीन आसमानका फ़र्क हो गया।" (आबेहयात पृष्ठ ५२)

मौ० अब्दुलहक़की राय हैं कि "अगर उर्दूको अरबी नशोनुमा (साहित्यिक विकास) दकनमें हासिल न हुई होती (जहाँकी भाषाएँ तैलङ्गी और कानड़ी, अनार्य थीं) तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फ़ारसी अरूज़के (पिंगलके) हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआबा गङ्गो-जमन में (अन्तर्वेद में) हर तरफ़ हिन्दी थी और मुल्ककी आम ज़बान थी।"

('उर्दू' जनवरी १९२२)

पं० हरिशंकर शर्माकी उर्दू व्याकरण और छन्दोंके विषयमें यह राय है :—

स्वतंत्र भाषाके लिये शब्द-कोप व्याकरण और छंदशास्त्रका होना

---

many Persian and Arabic words and should use instead the honest old Sanskrit Tadbhavas with which the Hindi abounds. By all means let it be so, but it need not be said that Urdu is a distinct language than Hindi.

१. The most correct way of speaking would be to say "the Urdu dialect of Hindi" or the "Urdu phase of Hindi." It would be quite impossible in Urdu to compose a single sentence without using Aryan words, though many sentences might be composed in which not a single Persian word occured. A Comperative Grammar of the Modern Aryan Languages Vol. I Introduction pp. 31 and 32.

आवश्यक है, सो उर्दूका न कोई शब्दकोष है, न व्याकरण और न छंद। उसने सारे शब्द फारसी, अरबी, तुर्की, हिंदी और अंगरेजी आदिसे लिये हैं। उर्दू और हिन्दीके व्याकरणमें किसी प्रकारका भेद नहीं, दोनो एक हैं। जब उर्दू हिन्दीकी एक शैली है तो उसका व्याकरण भिन्न कैसे हो सकता है? रहे छंद, ये भी उर्दूमें हिंदीसे ही ज्योंके त्यों गये हैं। यह बात अच्छी तरह देख ली गयी है कि उर्दूमें जो छंद व्यवहृत होते हैं, वे हिंदीके ही छंद हैं। बाल बराबर भी अंतर नहीं है। केवल पढ़नेका ढंग दूसरा हो गया है। यदि 'तकती' (प्रस्तार) किया जाय तो उर्दू बहर हिंदी छंदोंके अनुसार ही सिद्ध होंगे। यह विषय एक पृथक् निबंध द्वारा ही समझमें आ सकता है। ऐसा निबंध लिखा जा चुका है, और उसकी बात को उर्दू साहित्यकारोंने सहर्ष स्वीकार किया है।

उर्दूकी उत्पत्तिके संबंधमें शम्सुल उलेमा मौलाना अल्ताफ़ हुसैन हाली की नीचे लिखी पंक्तियाँ बड़ा प्रांजल प्रकाश डालती हैं। मौलाना लिखते हैं—

उर्दूके ग्रामरका दारोमदार बिलकुल ब्रजभाषा (हिंदी) या संस्कृत-की ग्रामरपर है। अरबी-फ़ारसीसे इसको सिर्फ इस क़दर ताल्लुक़ है कि दोनो जबानों के अस्मा संज्ञाएं उसमें कसरतसे शामिल हो गये हैं। बाक़ी तमाम अजज़ा (अंग) जिनके बग़ैर किसी ज़बानकी नज़्मो-नस्र मुफ़ीद मानी नहीं हो सकती, ब्रजभाषा (हिंदी) या संस्कृतकी ग्रामरसे माख़ूज़ हैं।

दोनो विद्वान् अर्थात् शम्सुल उलेमा मौलाना 'हाली' और मौलाना असर उर्दू साहित्यके सुप्रसिद्ध महारथी हैं। महाकवि हालीने तो उर्दू शायरीके शिथिल शरीरमें नवजीवनका संचार किया है। वे उचित रूपसे आधुनिक उर्दूके युगप्रवर्त्तक माने जाते हैं। दोनो विद्वानोंने अबसे लगभग पचास साठ वर्ष पूर्व संस्कृत और हिंदीके संबंधमें उर्दूवालोंको कैसी नेक सलाह दी है और हिंदी तथा संस्कृतकी महत्ता कैसे सुन्दर शब्दोंमें समझायी है।

उर्दूके इन महान साहित्यकारोंने अपने विचार उस समय प्रकट किए, जब राजनीतिक खींचातानी नहीं थी। सब लोग साहित्यको साहित्यकी दृष्टिसे देखते थे। दोनों साहित्यकारोंका यही अभिप्राय है कि उर्दूवालोंको संस्कृत न सही, हिंदी तो अवश्य ही सीखनी चाहिये और संस्कृत साहित्यकी भावनाओंसे अपने इल्मोअदबको अनुप्राणित करना चाहिये। हम देखते हैं कि पहले समयमें उर्दूको हिंदी कहनेमें किसी मुस्लिम उर्दू साहित्यकार को आपत्ति नहीं थी। गालिब तो बराबर उर्दूको हिंदी ही कहते लिखते रहे।

मुसलमानी हिन्दी या उर्दू

बहुत दिनोंतक हिन्दू देवनागरी या हिन्दी अक्षरोंमें और मुसलमान फ़ारसी अक्षरोंमें हिन्दी लिखते रहे। कितने ही मुसलमान कवियोंने हिन्दुओंकी तरह ही हिन्दीमें कविता भी की। परन्तु धीरे धीरे उनकी हिन्दीने फ़ारसी पोशाक पहननी शुरू की और इस तरह हिन्दू हिन्दीसे अलग होने लगी। अमीर ख़ुसरोने १४ वीं ईस्वी शताब्दीमें जो कुछ कविता की, वह फ़ारसी अक्षरोंमें ही लिखी रही, तथापि हिन्दी कविता करनेके समय उनकी दृष्टि हिन्दुस्थानकी ओर ही विशेष थी, इसलिये उसमें मुसलमान भावोंकी अधिकता नहीं है। किन्तु उनके बाद जिन मुसलमान विद्वानोंने हिन्दीको अपनी भाषा बनाया, वे ईरानियों और तुर्किस्तानियों की सन्तति होनेके कारण बचपनसे ही शेमेटिक आवोहवामें पले थे, इसलिये स्वभावत: वहींके भाव उनकी कवितामें आ जाते थे।

उर्दूका आदि कवि कौन है इस विषयमें कुछ मतभेद है, क्योंकि कोई अमीर खुसरोसे उसका सम्बन्ध लगाते हैं और कोई कहता है कि अकबरके जमानेमें फैजीके दोस्त गुजरातके शुजाउद्दीन नूरीने उर्दूमें पहले ग़ज़लें कहीं। ये गोलकुण्डेके सुलतान अवुलहसन कुतुबशाहके वजीरके बेटेके उस्ताद थे। इनके बाद गोलकुण्डेके कुली कुतुबशाह (शासन-काल १५८१ से ८६) और इनके उत्तराधिकारी अब्दुल्ला कुतुबशाह, जो १६११ ईस्वीमें तख्तनशीन हुए थे, बहुतसी गज़लें, रुबाइयाँ, मस्नवियाँ और क़सीदे छोड़ गये हैं। परन्तु अहमदाबादके शम्सवलीउल्ला "वली" ही उर्दूके पहले शाइर माने जाते हैं और 'बाबाए रेख़्ता' कहलाते हैं। ये औरंगज़ेबके जमाने में दिल्ली भी गये थे और वहाँ शेख सईदउल्ला गुलशनसे फारसी भावों और विचारोंको हिन्दुस्तानी जामा पहनाना सीखा था। गुजरात तो दिल्लीसे दक्षिणमें है और गोलकुण्डा दक्षिण हैदराबादके पास है, इसलिये वहाँ

मुसलमान जो भाषा उत्तरसे ले गये और जिसमें उन्होंने शाइरी की, वह दखनी या दकनी कहलायी। फिर तो हैदराबादमें इस दखनीको फलने-फूलनेका बहुत मौक़ा मिला।

मुहम्मदशाहके जमानेमें (१७१९ में) जब वलीका दीवान दिल्ली पहुँचा, तब सबसे पहले उन्हींके ढंगपर हातिमने दिल्लीकी हिन्दी या उर्दूमें ग़ज़लें लिखीं। इनके बाद तो नाजी, मजनू और आबरू अच्छे शाइर हुए। शाहआलम बादशाह खुद बहुत अच्छे शाइर हुए हैं और उनके चार दीवान उर्दूमें मौजूद हैं। उनका तख़ल्लुस या कविताका उपनाम जिसे छाप कहते हैं, "आफ़ताब" (सूर्य) था। इसलिये कहा जाता है कि आलमगीरके अहदमें नज़्मका (पद्यका) जो चिराग़ वलीने रौशन किया, वह शाहआलमके ज़मानेमें आफ़ताब होकर चमका। सौदा आबरूके ही शागिर्द थे। १७३९ में नादिरशाहीके बाद दिल्लीकी कला क्षीण होने लगी और १७५६में अहमदशाह दुर्रानीके हमलेके बाद तो दिल्लीसे आर्ज़ू, सौदा और मीर तक़ी जैसे बहुतसे शाइर लखनऊ चले आये, क्योंकि इसकी चढ़ती कला थी और नवाब आसफ़ुद्दौला अच्छे क़द्रदाँ थे। मीरसोज़, मीरहसन और क़लन्दर बख़्श जुर्रत भी लखनऊ आ पहुँचे और इस तरह ज़बाँदानीका दिल्लीका दावा खारिज हो गया। जुर्रत और मिरज़ा मज़हर जानेजानाँ हिन्दीकी कविता भी करते थे और दोहे कवित्त बनाते थे। परन्तु इनकी हिन्दी कविता प्रसिद्ध नहीं है। कहीं छपी भी देखनेमें नहीं आयी।

जैसा पाठक जानते हैं, वलीका 'बाबाए रेख़्ता' होनेका दावा नहीं माना जा सकता, क्योंकि असल 'बाबाए रेख़्ता' ख़ुसरो हैं और इनके बाद कबीरका हक़ है और वलीका हक़ अगर है तो उनका नम्बर चौथा है। भाषाका सबसे पुराना नाम हिन्दवी वा हिन्दी है। इसके बादका नाम रेख़्ता है, पर शाह आलमके ज़मानेके पहले कोई उसे 'उर्दू' नामसे नहीं पहचानता था, क्योंकि कहा जाता है, मशहूर शाइर मिरजा मुहम्मद रफ़ी सौदा शागिर्द तो शाह हातमके थे, मगर ख़ान आर्ज़ूकी सङ्गतसे बहुत लाभ उठाया था। ख़ान आर्ज़ूने ही उन्हें फ़ारसीके बदले उर्दूमें कविता करनेकी सलाह

इस तरह दी थी:—"मिरज़ा अब फ़ारसी तुम्हारी ज़बान मादरी नहीं, इसमें ऐसे नहीं हो सकते कि तुम्हारा कलाम अहले ज़बानके मुक़ाबिलेमें क़ाबिले तारीफ़ हो। तबै मौज़ूँ है। शेरसे निहायत मुनासिबत रखती है, तुम उर्दू कहा करो।"

दिल्ली उजड़नेपर हिन्दुस्तानमें तीन मुसलमानी सल्तनतें क़ायम हुईं, हैदराबाद, मुर्शिदाबाद और लखनऊ। यद्यपि दक्षिणसे ही उर्दूकी शाइरी शुरु हुई, तथापि दिल्लीमें सचमुच शाइरी कहलाने योग्य हुई और लखनऊने उसको रौनक़ बख़्शी। पहले तो दिल्लीके शाइर ही लखनऊ आये थे, उनकी नवाब आसफ़ुद्दौलाने अच्छी इज्ज़त की और ६०००) सालाना तलब कर दी। बादको लखनऊमें भी अच्छे शाइर हुए और ऐसे हुए कि दिल्लीसे कई बातोंमें वैसे ही स्वतंत्र हो गये, जैसे नवाब दिल्लीके बादशाहसे स्वतंत्र हुए थे। वर्तमान भाषाका रूप सुरूप करनेमें लखनऊ वालोंका बड़ा हाथ है।

पहले उर्दूमें भी ऐसे शब्द और प्रत्यय तथा कारकान्त चिन्होंका प्रयोग होता था, जिन्हें आज हिन्दीवाले भी गँवारी या अशिष्ट समझते हैं; जैसे "से" की जगह "सों":—

> दिल वलीका ले लिया दिल्लीने छीन।
> जा कहो कोई मुहम्मद शाहसों॥

उर्दू शाइरोंने बुलबुल, जान, दीद (दर्शन) और सैरको पुलिंग भी लिखा है, यद्यपि ये स्त्रीलिङ्ग ही हैं। सुनिये—

> एक लहजा और भी वह उड़ाता चमन का दीद।
> फ़ुर्सत न दी ज़मानेने इतनी शरारको॥ (मीर दर्द)
> सुनै है मुर्गे चमनका तु नाला ऐ संयाद।
> बहार आनेकी बुलबुल खबर लगा कहने॥ (सौदा)
> सैरे चमनको चलिये बुलबुल पुकारते हैं। (आतिश लखनवी)
> कहा तबीबने अहवाल देखकर मेरा।

कि सख्त जान है सौदाका आह क्या कीजै ।।
बुतांका दीद मैं करता हूँ शेख़ जिस दिनसे ।
हवाल तबसे मय यूब यूँ मेरे दिलसे ।।
करें शुमार बहम दिलके यार दाग़ोंका ।
तू आ कि सैर करें आज दिलके बाग़ोंका ।।

दिल्लीवाले पै और पर, तलक और तक, कभू और कभी दोनो लिखते थे। पर लखनऊवालोंने पर, तक और कभी ले लिये और बाक़ी छोड़ दिये। रखा और रक्खा, बिठाना और बैठाना, पिन्हाना और पहनाना इनमें पिछले रूप स्वीकृत और पहले त्याज्य ठहरे। ईजाद और कलाम पुंलिग हैं, पर कोई स्त्रीलिंग भी बोलते हैं। तर्ज़ स्त्रीलिंग है, पर पुंलिग भी बोलते हैं। इस बाबमें—सम्बन्धमें अर्थमें बोलते थे। अब लखनऊ-वालोंने "इस बारेमें" बोलना शुरू किया। ग़दरके पहले दिल्लीवाले न बोलते थे, अब सब बोलते हैं। वर्तमानकालिक क्रियामें 'आय है, जाय है' प्रयोग चलते थे, अब सब लोग "आता हैं, जाता है," लिखते बोलते हैं।

मुसलमान शाइर और आलिम हिन्दुस्तानमें रहते अवश्य थे, पर यहाँ-के साहित्यका अध्ययन उनमें बिरले ही किसीने किया था। उनकी जो पीढ़ी यहाँ पैदा हुई, वह भी ईरानी और अरबी संस्कृतिमें ही पली, जिसका फल यह हुआ कि जब उसने इस देशकी भाषा हिन्दीको अपनाया तो इसमें अरबी, फ़ारसी और तुर्की शब्दोंकी बहुतायत ही नहीं कर दी, बल्कि अरबी, फारसी भावों और संस्कृतिसे इस प्रकार भर दिया कि नामको तो यह भाषा हिन्दी रह गयी, पर वास्तवमें मुसलमानी या फ़ारसी हिन्दी होकर इसने उर्दू नाम पाया। उर्दूने फ़ारसीका अनुकरण बेतरह किया है। यहाँ तक कि इतिहास, कहानियाँ और कहावतेंतक फ़ारसीकी ले लीं और उदाहरण और दृष्टांत भी वहींकी चीज़ों, आदमियों और जगहों, नदियों और पहाड़ों के दिये, जिन्हें कभी स्वप्नमें भी नहीं देखा था। देखिये यहाँ भीम और अर्जुन की वीरता प्रसिद्ध है, पर सौदाने वीरता शूरताके लिये रुस्तम और सामको याद किया और कहा कि

रुस्तम रहा ज़मींपे न साम रह गया।
मर्दोंका आस्माँके तले नाम रह गया।।

रूपराशिका वर्णन करनेके समय भी उर्दू शाइरोंने द्रौपदी, दमयंती जैसी भारतीय ललनाओंके नाम नहीं लिये, बल्कि सुन्दरताकी तुलना करने बैठे तो, लैली और शीरींको ले आये। अब तो शीरीं-फ़रहाद और लैला-मजनूँके क़िस्से हिन्दुओंको भी अच्छी तरह मालूम हो गये, क्योंकि थियेटरों और बाइसकोपोंमें भी दिखाये जा रहे हैं। परन्तु उर्दूवालोंने कभी इसकी परवा नहीं की कि हिन्दुस्तानके लोग उनकी शाइरी समझते हैं या नहीं। इतनेसे ही अन्त नहीं हुआ। मजनूँ और फ़रहाद जब रोये, तब उनकी आखोंसे गंगा और जमुना तो बह नहीं सकती थीं। इसलिये जीहों-सीहों[1] नामकी नदियाँ भी यहाँ लानी पड़ीं। फिर हिमालय, विन्ध्याचलके बदले कोहे बेसतूँ, क़स्त्रे शीरीं और कोहे अलबन्द भी लाये गये। सारांश, कविता होती थी हिन्दुस्तानमें बैठकर, पर मन सैर करता था ईरानकी। कभी कभी कोई शाइर यहाँकी उपमाएँ भी काममें लाते थे, जैसे इनशाने किया है। सुनिये—

मिले पारेसे जो हड़ताल करके राखका जोड़ा।
तो ताँबेसुरजी उगलें कोई नब्वे लाखका जोड़ा।।
नहीं कुछ भेदसे खाली यह तुलसीदासजी साहब!
लगाया है जो इक भौंरेसे तुमने आँखका जोड़ा।।
लिपट कर किरशनजीसे राधका हँसकर लगी कहने।
मिला है चाँदसे ये लो अँधेरे पाखका जोड़ा।।
यह सच समझो कि इनशा है जगत सेठ इस ज़मानेका।
नहीं शेरो सख़ुनमें कोई इसके साखका जोड़ा।।

---

१. तूरानकी नदियाँ।

ऐ इश्क़ अजी आओ महराजोंके राजा डंडवत है तुमको।
कर बैठे हो तुम लाखों करोड़ोंहीके सर चट इक आनमें चटपट ।।
यह जो महन्त बैठे हैं राधाके कुंडपर।
अवतार बनके गिरते हैं परियोंके झुंड पर ।। इत्यादि

सौदाने भी मौजमें आकर कभी हिन्दुस्तानी विशेषताओंका ध्यान रखकर शेरें कही हैं, जिनमें कुछ नीचे उद्धृत की गयी हैं :—

तर्कश उलेंड़ सीना आलमका छान मारा।
मिज़गांने[1] तेरे प्यारे अर्जुनका बान मारा ।।
मुहब्बतके करूँ भुजबलकी मैं तारीफ़ क्या यारो।
सितम पर्वत हो तो उसको उठा लेता है जूँ राई ।।
नहीं है घर कोई ऐसा जहाँ इसको न देखा हो।
कन्हैयासे नहीं कुछ कम सनम मेरा वह हरजाई ।।
सावनके बादलोंकी तरहसे भरे हुए।
यह वह नैन हैं जिनसे कि जङ्गल हरे हुए ।।

परन्तु सच तो यह है कि उर्दूके अधिकांश कवियोंकी दृष्टि सदा पश्चिमकी ओर रही और बुलबुल, गुल, शराब, इश्क़, बुत, काफ़िर, सूफ़ी, बिरहमन, वाइज़, या नासह, रोज़े महशर, शेख और ज़ाहिद, खिज्र, शैतान, मसीहा, आदम और हौवाके सिवा शीरीं-फ़रहाद, लैला-मजनूँ और यूसुफ़-जुलेख़ाकी चर्चासे उनकी कविता ओतप्रोत दिखायी देती है। इन सबका सम्बन्ध फ़ारस, अरब आदि देशोंसे है और इसीलिये जो इन्हें नहीं जानता, वह उर्दू कविता नहीं समझ सकता, क्योंकि किस मतलबसे क्या कहा गया है, यह बिचारा हिन्दुस्तानी आदमी क्या जाने, जब तक उसने इनके सम्बन्धका साहित्य न पढ़ा हो।

रातको प्रेमालापमें साक़ीका आना वाजिब समझा जाता है,

---

१. मिज़गां=पलकें।

साक़ी अरबी शब्द है और इसके लिये यहाँ कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। शराबफ़रोशको यहाँ सूड़ीं, कलवार या कलार कहते हैं और दूकान सूँड़ीखाना या कलवरिया कहलाती हैं। पर साक़ी सूँड़ी या कलवार नहीं है यह तो जलसेमें शराब पिलाने आता है। इसका काम प्याले भर भरकर लोगोंको देना है। शराब पीनेकी रस्म यहाँ इस तरह नहीं थी, इसलिये साक़ी भी नहीं था। शराबकी प्रशंसा करते उर्दू शाइर कभी नहीं थकते।

मस्ती वो बेख़ुदीमें आसूदगी[1] बहुत थी।
पाया न चैन हमने तर्के शराब करके।। (मीर)
लुत्फ़े मय तुझसे क्या कहूँ ज़ाहिद ?
हाय कमबख़्त तूने पी ही नहीं।। (दाग़)
पिला मय आशकारा[2] हमको किसकी साक़िया चोरी।
ख़ुदाकी जब नहीं चोरी तो फिर बन्देकी क्या चोरी।।(ज़ौक)
बहार आयी है भर दे बादए[3] गुलगूँसे पैमाना।
रहे लाखों बरस साक़ी तेरा आबाद मयख़ाना।।
मय भी है मीना[4] भी है साग़र[5] भी है साक़ी नहीं।
जीमें आता है लगा दें आग मयख़ानेको हम।। (गोया)

सब शाइर शराबी ही नहीं थे, परन्तु प्रेमको शराबकी उपमा और प्रेमपात्र (माशूक़) को साक़ीकी उपमा देनेके कारण वे साक़ी और शराब की प्रशंसामें मस्त हो जाते थे। उर्दू शाइर फ़ारसी और अरबी संस्कारोंके कारण आस्मान या फ़लकको जली कटी सुनाया करते हैं, क्योंकि ये समझते हैं कि आस्मान हमेशा घूमा करता है, इसलिये दूसरोंको भी सुखसे बैठे नहीं देख सकता।

मुसलमानी मतानुसार एक दिन वे सब आदमी ख़ुदाके हुज़ूरमें हाज़िर

१. तुष्टि, २. खुल्लमखुल्ला, ३. शराब, ४. शराबका शीशा, ५. प्याला।

किये जायँगे, जो मर चुके हैं और उनके अच्छे-बुरे कामों के लिये परमेश्वर उन्हें स्वर्ग (जन्नत या बिहिश्त) अथवा नरक या दोज़ख़में भेजेगा। बिहिश्त में शराबकी नदियाँ और परियाँ मिलेंगी और दोज़ख़में जलती हुई आगका सामना करना पड़ेगा। मुसलमानोंका विश्वास है कि जो तोबा (पश्चात्ताप) करेगा, उसके अपराध क्षमा कर दिये जायँगे तथा ईश्वर बड़ा दयालु है; वह यों भी सबको क्षमा कर देगा।[1] यही रोज़े महशर या इन्तक़ाम या क़यामतका दिन कहलाता है। ईसाई भी विश्वास करते हैं कि न्यायका एक दिन आवेगा। इस रोजे महशरपर भी बहुत सी कविताएँ हैं।

क़रीब है यार रोज़े महशर छिपेगा कुश्तोंका[2] खून क्यों कर ?
जो चुप रहेगी ज़बान खंजर लहू पुकारेगा आस्तीं का ॥ (दाग़)
है यह ज़ुल्म चन्द रोज़ा है एक दिन इन्तक़ामका भी।
अमीर हम्माम गर्म कर लें ग़रीबका झोंपड़ा जलाकर ॥ (अमीर)

उर्दू कवियोंको आशा है कि रोज़े महशरको जिसे रोजे हशर भी कहते हैं, उनका और उनके माशूक़का इन्साफ़ होगा और इसीपर वे अपने मनको समझाया करते हैं। कभी कभी कई उर्दू शाइरोंने यह सन्देह भी प्रकट किया है कि शायद इन्साफ़ न हो।

शराबकी तरह इश्क़ (प्रेम), आशिक़ (प्रेमी) और माशूक़ (प्रेमपात्र) पुरानी उर्दू कविताकी जान हैं। इन्हें निकाल डालें, तो फिर कुछ नहीं रह जाता। बुतका अर्थ मूर्ति या प्रतिमा है। पर उर्दू कवितामें यह और इसका

---

१. यह फारसी पद्य इसी भावका द्योतक है—
शुनीदम् कि दर रोज़े उम्मेदो बीम।
बदाँरा बनेकां बेबख़्शद् करीम॥
अर्थात्—मैंने आशा और भयके बीच यह सुना कि कृपालु परमेश्वर बुरोंको भी अच्छोंके साथ क्षमा कर देगा।

२. मारे हुओंका।

अरबी प्रतिशब्द "सनम" माशूक़के लिये आते हैं। माशूक़का वासस्थान बुतख़ाना या दैर कहाता है और आशिक़ सनमपरस्त या बुतपरस्त (प्रतिमा-पूजक वा प्रेमपात्रका पुजारी) है। यों तो क़ुरानके अनुसार काफ़िर वह है जो ईश्वरके अतिरिक्त किसी दूसरेकी प्रार्थना इस आशासे करता है कि यह उसे वह वस्तु देगा, जो केवल ईश्वर ही दे सकता है। परन्तु कवियोंने माशूक़के लिये काफ़िर शब्दका प्रयोग किया है। एक शाइरका कलाम है :—

मुहब्बतमें नहीं है फ़र्क़ जीने और मरनेका।
उसीको देखकर जीते हैं जिस क़ाफ़िरपै दम निकले ।।

फ़ारसीके एक सूफ़ी कविने अपनेको इश्क़का काफ़िर कहा है; जैसे—

काफ़िरे इश्क़म् मुसलमानी मरा दरकार नेस्त।
हर रगे मन तार गश्ता हाजते ज़ुन्नार नेस्त ।।

कहता है कि मैं इश्क़का—प्रेमका काफ़िर दीवाना हूँ। मुझे मुसलमान होनेकी ज़रूरत नहीं है और जो कहो कि तुम जनेऊ भी तो नहीं पहने हो, तो मेरी रग-रगमें तार गया हुआ है, इसलिये मुझे जनेऊ भी दरकार नहीं है।

वाइज़ या नासह वाज़ "उपदेश" देनेवालेको कहते हैं। परन्तु उर्दू शाइरोंने धर्मके ठेकेदारों या ढोंगियोंके लिये इसका प्रयोग किया है, जो आप तो धर्मका ढोंग रचते हैं और जो आडम्बर-शून्य सच्चे भगवद्भक्त होते हैं तथा रूढ़ियोंका पालन नहीं करते, उनको पथभ्रष्ट कहकर उनकी निन्दा करते हैं। इसीलिये उर्दू शाइरोंने वाइज़ोंकी हँसी उड़ायी है। ग़ालिब कहते हैं :—

कहाँ मयख़ानेका दरवाज़ा ग़ालिब और कहाँ वाइज़।
पर इतना जानते हैं कि कल वह जाता था कि हम निकले ।।

इस्लाममें शराब पीना हराम है और वाइज़ सबको यही उपदेश दिया करते हैं। परन्तु यह "परोपदेशे पाण्डित्यम्" है, यही ग़ालिबने इस शेरमें

बड़ी ख़ूबीसे बताया है। कविका कहना है कि शराबख़ानेके दरवाज़े और वाइज़में बड़ा अन्तर है, क्योंकि शराब न पीनेका उपदेश देना उसका काम है, इसलिये शराबख़ानेके दरवाज़ेतक वह पहुँच ही नहीं सकता। फिर भी यह हम जानते हैं कि जब वह अन्दर जा रहा था, तब हम निकल रहे थे। कैसी मीठी चुटकी है!

शेख़ और ज़ाहिद भी ऐसे ही शब्द हैं। शेख़ तो बुज़ुर्गको कहते हैं और ज़ाहिद परहेज़गार, मद्यपान आदि व्यसनोंसे दूर रहनेवाला है। पर उर्दू शाइरोंने इन शब्दोंका प्रयोग पाखंडियों और बगुलाभगतोंके लिये किया है और जगह जगह इनकी धूल उड़ायी है।

ज़ाहिद[1] न तुम पियो न किसीको पिला सको।
क्या बात है तुम्हारी शराबे तहूर[2] की। (ग़ालिब)
किसीकी तो ज़ाहिदको होती मुहब्बत।
बुतोंकी न होती ख़ुदाकी तो होती।।
हुआ है चार सिजदोंपर ये दावा ज़ाहिदो तुमको।
ख़ुदाने क्या तुम्हारे हाथ जन्नत[3] बेच डाली है?
तके है ज़ाहिद शराबे गुलगूँ[4] हुआ है दिल भी ख़राब आधा।
ख़िला दे साक़ी बलासे इसको डूबोके तू भी कबाब आधा।। (सैयद)
ज़ाहिद शराब पीने दे मसजिदमें बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँपर ख़ुदा न हो।।
ये शेख़जी जो मुसल्ला[5] बिछाये बैठे हैं।
बुतोंकी यादमें आसन जमाये बैठे हैं।।
किसीपर मर मिटे होंगे मये[6] गुलगूँ भी पी होगी।।
जवानीमें जनाबे शेख़ने क्या कुछ न की होगी।।

---

१. पाठान्तर—वाइज़, २. स्वर्ग, ३. बिहिश्त, स्वर्ग, ४. लाल रंग, ५. जाय नमाज, जिस कपड़ेपर बैठकर नमाज पढ़ते हैं। ६. शराब।

सिजदा कहते हैं नमाज़में सिर झुकानेको। शायद नमाज़ न पढ़नेवाले किसीको ज़ाहिदोंने छेड़ा है। इसपर वह कहता है कि तुम चार सिजदोंपर बड़े धार्मिक होनेकी डींग मार रहे हो। क्या खुदाने तुम्हारे हाथ स्वर्ग बेच डाला है कि जिसको चाहोगे जाने दोगे, बाक़ीको रोक दोगे? चूँकि ज़ाहिद कर्मकाण्डवादी होता है, इसलिये उसमें कर्मठपन भले ही हो, प्रेम नहीं होता; ईश्वरका भी प्रेम नहीं होता। यह भी इसका भाव है। शेख़जीके ढोंगके बारेमें कवि कहता है कि जवानीमें इन्होंने सब किया होगा—शराब भी पी होगी और किसीपर आशिक़ भी हुए होंगे। पर इस समय "सत्तर मूसे तोड़ बिलाई चली हजको।"

ख़िज्र मुसलमानोंके एक फ़रिश्ते या देवदूतका नाम है। हिन्दुओंमें अश्वत्थामा[1], बलि, व्यास, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य, परशुराम और मार्कण्डेय चिरंजीव हैं, वैसे ही मुसलमानोंमें ख़िज्र भी चिरंजीव हैं। मुसलमानोंका विश्वास है कि ये भूले-भटकोंको राह बताया करते हैं। महाकवि दाग़का शेर है:—

हम एक रास्ता गलीका उसकी दिखाके दिलको हुए पशेमां।
ये हज़्रते ख़िज्र को जता दो किसीकी तुम रहबरी न[2] करना।।

ख़िज्र के नामपर ही कलकत्तेका एक मुहल्ला बसा है, जिसे लोग खिदिरपुर कहते हैं। वास्तवमें वह ख़िज्रपूर है।

शैतान भी एक फ़रिश्ते या देव-दूतका नाम है। क़ुरानके अनुसार

---

१. अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमांश्च विभीषणः।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः।।
सप्तै तान्स्मेरेन्नित्यं मार्कण्डेय यथाष्टमम्।
जीवेद्वर्षशतं साग्रमपमृत्यु विनश्यति।।
(आनन्द रामायण)

२. रास्ता बताना।

जब ख़ुदाने आदमको पैदा किया, तब सब फ़रिश्तोंको हुक्म दिया कि इसको सिजदा—नमस्कार करो। शैतानको छोड़ सबने नमस्कार किया। शैतानने नमस्कार न करनेका यह कारण बताया कि "तूने मुझे तो आगसे पैदा किया है और आदमको मिट्टीसे, इसलिये मैं इसे क्यों सिजदा करूँ?" ख़ुदाको शैतानका यह घमण्ड बुरा मालूम हुआ, इससे उसने इसे बिहिश्तसे निकाल दिया। शैतानने अपनी पूजाका पुरस्कार माँगा कि मुझे क़यामतके दिनतककी ज़िन्दगी मिल जाय। जब ख़ुदाने यह बात मान ली, तब इसने कहा कि मैं तेरे बन्दोंको बहकाया करूँगा। ख़ुदाने कहा कि जो मेरे भक्त होंगे, वे तेरे बहकावेमें न आवेंगे।

आदम और हव्वा उन पुरुष और स्त्रीके नाम हैं, जिन्हें मुसलमानी मतानुसार ख़ुदाने बिना बाप माके पैदा किया था। दुनियामें आनेके पहले वे बिहिश्तमें रहा करते थे। ख़ुदाने उन्हें गेहूँके पेड़का फल खानेसे मना किया था, पर शैतानके बहकावेमें आकर हव्वाने आप वह निषिद्ध फल खाया और अपने पतिको भी खिलाया। इसलिये ख़ुदाने बिहिश्तसे इन्हें निकाल दिया। महाकवि ग़ालिबने इस शेरमें इसी बातकी ओर इशारा किया है:—

निकलना ख़ुल्दसे[1] आदमका सुनते आये थे लेकिन।
बहुत बेआबरू होकर तेरे कूचेसे हम निकले॥

ईसामसीह ईसाई मतके तो प्रवर्त्तक हैं ही, परन्तु मुसलमान भी उन्हें अपना एक पग़म्बर मानते हैं। ईसाके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वे रोगियोंको अच्छा कर देते थे और मुर्दोंतकको जिला देते थे। माशूक़की कृपा-दृष्टिसे आशिक़का रोग दूर हो जाता है—यही कारण है कि उर्दू कवि माशूक़को ईसा या मसीह या मसीहा कहते हैं; जैसे—

---

१. स्वर्ग।

वादा है मेरे मसीहासे यहाँ आनेका।
एक दम और न आये जो अजल[1] आयी हो।।

शीरीं-फ़रहाद लैला-मजनूँ और ज़ुलेखा-यूसुफ प्रसिद्ध माशूक़ और आशिक हैं। शीरीं ईरानकी बड़ी रूपवती स्त्री थी और चीनका चित्रकार फ़रहाद इसपर मोहित था। ईरानका शाह ख़ुसरो भी इसपर आसक्त था और किसी प्रकार अपने महलमें इसे ले गया था। परन्तु शीरींका फ़रहादसे प्रेम था, इसलिये इसके विरहमें वह रोया करती थी। ख़ुसरोने यह देख शीरींसे कहकर फ़रहादके प्रेमकी परीक्षा करनी चाही और वह इस प्रकार कि फ़रहाद पहाड़ खोदकर महलतक नहर ले आवे और यदि वह ऐसा कर देगा तो पुरस्कारमें शीरींको प्राप्त कर लेगा। फ़रहादने जब नहर निकाल दी, तब शाहने फ़रहादसे कहा कि शीरीं मर गयी। इसपर फ़रहादने आत्महत्या कर ली और जब शीरींको यह मालूम हुआ तो इसने भी आत्म-घात कर लिया।

मजनूँ, जिसका असली नाम क़ैस था, अरबके नेज्द[2] देशका रहनेवाला था। वह अरब-रमणी लैलाके प्रेममें इतना उन्मत्त रहता था कि तन-बदनकी ख़बर न रखता था। उर्दू कवियोंने अपनेको मजनूँ और फ़रहाद और कभी कभी इनसे भी बढ़कर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है। एक शाइर अपने माशूक़से कहता है :—

क़ैसो फ़रहादके क़िस्से तो सुना करते हो लेकिन।
दाद दो इसकी कि हमने तुम्हें कैसा चाहा।।

यूसुफ़ मुसलमानोंके एक पैग़म्बर थे और किनान[3] देशमें रहते थे। कहते हैं कि संसारके सौन्दर्यका तीन चौथाई भाग उनमें था। परन्तु भाइयों-

---

१. मौतकी मुक़र्रर घड़ी। २. नेज्द सऊदी अरबका अंग है। नेज्द राज्यमें हेजाज़ मिल जानेसे सऊदी अरब बना है। ३. यही आजकल लेबनान है।

ने डाह कर उन्हें मिस्रके किसी सौदागरके हाथ बेच दिया और उस सौदागरने वहाँके राजाके हाथ बेच दिया। राजाकी स्त्री जुलेखा उनपर आसक्त हो गयी और इसने उन्हें अपने वशमें लानेमें कोई बात उठा नहीं रखी। जब वे इसके फेरमें नहीं आये तब इसने उन्हें बन्दीगृहमें डलवाकर अनेक कष्ट दिये। अन्तमें जब राजाको यह भेद मालूम हुआ तो उसने उन्हें अपना युवराज बना लिया। कुछ दिनोंमें वे मिस्रके राजा हो गये। पुत्र-वियोगसे उनके पिता याक़ूबकी आँखोंकी ज्योति जाती रही थी, पर इनका समाचार सुनकर फिर ज्योति आ गयी। उर्दू कवियोंने अपनी कवितामें मिस्रके जेलख़ाने, हज़रते याक़ूबकी आंखोंकी रोशनी तथा यूसुफ़की सुन्दरताका अच्छा वर्णन किया है—

तुम वो यूसुफ़ हो कि अच्छा भी तमाशाई[1] हो।
दीदए हज़रते याकूबकी बीनाई हो[2]॥

१. दर्शक, तमाशा देखनेवाला। २. नेत्र-ज्योति।

सूफ़ी मत और इश्क़

सूफ़ी, इश्क़, आशिक़ और माशूक़ ऐसे शब्द हैं जिनका उर्दू फ़ारसीकी कविता में बहुत अधिक प्रयोग हुआ और होता है। इसलिये इनके सम्बन्धमें कुछ विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन है। सूफ़ी शब्द यूनानी (यवन या ग्रीक) भाषाके सूफ़िया शब्दसे निकला है या अरबीके सूफ़ शब्दसे यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। परन्तु सूफ़ियासे बनना बहुत सम्भव है, क्योंकि इसका अर्थ बुद्धिमत्ता है और सूफ़ी ईश्वर-प्रेमी होनेके कारण बुद्धिमान् समझे भी जाते हैं। अरबी में सूफ़का अर्थ ऊन या पश्मीना है और ईरानी साधु बहुधा ऊनी कपड़े पहनते हैं, इसलिये ईश्वर-प्रेमी साधु सूफ़ी कहलाने लगे हों तो आश्चर्य नहीं।

सूफ़ियोंका मत तसव्वुफ़ कहलाता है और यह एक प्रकारका वेदान्त है। सूफ़ियोंका कहना है कि सब आत्माएँ ईश्वरसे निकली हैं और अन्तमें उसीकी ओर लौट जायंगी। जो कुछ उसने बनाया है, सबमें उसीकी आत्मा है। ईश्वर-प्रेमके सिवा सब व्यर्थ है। सांसारिक जीवन माशूक़ वा ईश्वरसे वियोग है। कट्टर मुसलमान सूफ़ियोंको रिन्द मजहबी बातोंका न मानने-वाला कहते हैं। परन्तु फ़ारसी और उर्दूके शाइरोंने सूफियोंका अनुकरण करनेमें ही गौरव समझा है और 'निर्भीक' अर्थमें रिन्द शब्दका अपने लिये प्रयोग भी किया है। सारांश, सूफ़ी मत एकात्मवाद वा सर्वात्मवाद है।

सूफ़ी अपनेको आशिक़ और ईश्वरको माशूक़ या प्रेमपात्र मानते हैं। इश्क़ वा प्रेम दो तरहका होता है, एक इश्क़े हक़ीक़ी और दूसरा इश्क़े मजाज़ी। इश्क़े मजाज़ीका अर्थ सांसारिक वस्तुओं या मनुष्योंसे प्रेम है। हक़ ईश्वरको कहते हैं, इसलिये इश्क़े हक़ीक़ी ईश्वरप्रेम है। ख़ुदा माशूक़े हक़ीक़ी और इन्सान माशूक़े मजाज़ी है। इश्क़े हक़ीक़ीका दूसरा नाम इश्क़े कामिल भी है। बहुतसे उर्दू शाइरोंकी समझ है कि इश्क़े मजाज़ी इश्क़े हक़ीक़ी

की सीढ़ी है और इसीलिये उर्दू शाइरी आशिक़-माशूक़की बातोंसे सरा-बोर हैं।

सूफ़ी मत इस्लामका अंग रहनेपर भी कट्टर मुसलमान इसे कुफ़ और सूफ़ीको रिन्द और काफ़िरतक कह डालते हैं। इसका कारण यह है कि तसव्वुफका मूलाधार वेदान्तका अद्वैतवाद है और योग तथा भक्तिकी पुट देकर वह मुसलमानी साँचेमें ढाल लिया गया है। अरब और ईरान आदि मुसलमानी देशोंसे भारतका सम्बन्ध था और चूँकि वेदान्तके ब्रह्म-वादसे इस्लामके तौहीद वा एकेश्वरवादका सामञ्जस्य हो जाता था, इसलिये वहाँ एक ऐसा सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया, जो ऊपरसे मुसलमान रहनेपर भी भीतरसे प्रेममार्गी वेदान्ती बन गया। किसी समय तो तसव्वुफ़के एकात्मवाद वा सर्वात्मवादने ईराक़ अरबके सब वादोंको दबा दिया था। अरबके बड़े बड़े विद्वान् सूफ़ी बनने लगे थे। बसरेके उमर-बिन उस्मान मकीने तसव्वुफ़पर कई बड़े अद्भुत ग्रन्थ लिखे थे, परन्तु किसी अनधि-कारीको कभी नहीं दिखाते थे।

यह प्रसिद्ध है कि श्रीरामानुजाचार्यके गुरुने 'ओं नमो भगवते वासु-देवाय' मन्त्र देकर उनसे कहा था कि यह किसीको न बताना, परन्तु श्री रामानुजने गुरुजीकी आज्ञा न मान ऊँचेपर चढ़ लोगोंको ज़ोर ज़ोरसे सुनाना शुरू किया। इसका कारण यह था कि आचार्यने समझा कि गुरुकी आज्ञाका उल्लंघन करनेका जो दोष होगा, वह मुझे होगा; परन्तु लोगोंको कल्याणी वाणी श्रवण करनेसे जो लाभ होगा, उससे अपने हितार्थ उन्हें वंचित करना उचित नहीं है। यही कारण था कि मकीके ग्रन्थ जब दिव्य प्रेमी मन्सूरके[1] हाथ लगे, तब ये लोगोंको सरे बाज़ार सुनाने लगे।

---

१. मन्सूरका नाम हुसैन था और इनके पिताका नाम मन्सूर। अरबीमें पूरा नाम हुआ हुसेन इब्ने मन्सूर जिसका अर्थ हुआ हुसैन वल्द मन्सूर। दक्षिणियोंकी तरह अरब लोगोंमें लड़केके नामके साथ बापका नाम रहता है। हुसैनने अपना नाम तो छोड़ दिया और पिताका नाम अपना लिया

इससे कट्टर मौलवी तो मन्सूरके दुश्मन हो ही गये, पर उमर बिन उस्मानसे भी असन्तुष्ट हो गये, जिसके फलस्वरूप दोनोमें मनमुटाव हो गया। इसलिये मन्सूर बगदाद चले गये और जब वहाँके विद्वान् शुस्तरसे भी मतान्तर हो गया, तब वहाँसे अन्यत्र को रवाना हो गये। शुस्तरमें भक्त वा साधुकी तरह न रहकर विद्वान्की तरह दिन बिताने लगे। फिर मक्के जाकर एक वर्षतक घोर तपस्या की। अनन्तर जब लौटकर बगदाद पहुँचे तो लोग इनसे घृणा करने लगे। यहां तक कि ये पचास शहरोंमें गये,पर किसीने कहीं इन्हें ठहरनेतक न दिया। कट्टर मुसलमानोंने इनके नाकों दम कर दिया। और तो क्या, ईरानमें इनके ख़िलाफ़ कुफ़्रका फ़तवा दिया गया और ये सूलीपर चढ़ा दिये गये। मन्सूरकी सूलीके बारेमें यह शेर बहुत प्रसिद्ध है :—

चढ़ा मन्सूर सूलीपर, पुकारा इश्क़बाज़ोंको।
ये उसके बामका[1] ज़ीना है, आये जिसका जी चाहे ॥

कहते हैं जब मन्सूरको क़त्लगाह—बधस्थानमें ले गये, तब उन्होंने भीड़पर दृष्टि डाली और जोरसे "हक़ हक़ अन् अल् हक़" (ब्रह्म ब्रह्म अहं ब्रह्मास्मि) का नारा लगाया। एक फ़क़ीरने आगे बढ़कर पूछा कि इश्क़ क्या है तो बोले कि आज, कल और परसोंमें देख लोगे यानी आज आशिक़-को सूली दी जायगी, कल वह जलाया जायगा और परसों उसकी खाक़ उड़ायी जायगी।

इसी तरह औरंगज़ेबके जमानेमें एक आशिक़ सूफ़ी सरमदको शहीद होना पड़ा था। सरमद अरमनी यहूदी था और बादको मुसलमान बन गया

और सच्चे पुत्रकी तरह पिताको पुत् नामक नरकसे ही नहीं निकाला—लोप होनेसे ही नहीं बचाया—बल्कि उन्हें संसारमें अच्छी तरह चमका दिया।

१. बाम=अटारी।

था। वह व्यापार करने हिन्दुस्तान आया था और शाहजहाँके जमानेमें दिल्ली पहुँचा था। शाहजहाँके युवराज या वलीअहद और औरंगजेबके बड़े भाई दाराशिकोहने उपनिषदोंका तर्जुमा फारसीमें कराया था और सूफ़ियोंका बड़ा भक्त था। सरमद भी सूफ़ी था और इसलिये दाराके यहाँ आया-जाया करता था। यही नहीं, इसने दाराको राज पानेके लिये आशीर्वाद भी दिया था। सरमद प्रभावशाली सूफ़ी था और उसका दारासे सद्भाव प्राणघातक सिद्ध हुआ।

औरंगजेबने मुल्लाओंसे षड्यंत्र कराके सरमदके क़त्लका फ़तवा ले लिया। जब सरमदको इसका पता चला, तब उसने कहा :—

देर अस्त कि अफ़सानए मन्सूर कुहन शुद।
अकनू सरेनौ जलवा दिहम दारो रसनरा।।

अर्थात्—बहुत दिन हुए मन्सूरका किस्सा पुराना पड़ गया था। मैं अभी नये सिरेसे सूलीपर चढ़कर उसे फिर ताजा करता हूँ। सूलीवाले दिन सरमदने कहा था :—

बजुर्मे-इश्क़ तो अम् मीकुशन्द ग़ौग़ाएस्त।
तो नीज़ बरसरे बाम आ कि ख़ुश तमाशाएस्त।।

अर्थात्—तेरे प्रेमके अपराधमें मैं मारा जा रहा हूँ यह उसीका कोलाहल है। तू भी अटारीपर चढ़कर देख तो क्या अच्छा तमाशा है।

सूफी अपने सिद्धांतोंको सर्वसाधारणसे छिपाते थे, क्योंकि "न देयम् यस्यकस्यचित्"—जिस किसीको बतानेकी यह बात न थी। भक्ति श्रद्धान्वित अधिकारीको हो रहस्य बताये जाते हैं। ऊसरमें बीज बोनेके वे पक्षपाती न थे। इसके सिवा दूसरा कारण कट्टर मुसलमानोंका विरोध भी था, जो इसे कुफ़्र समझते थे। इसलिये इनके अत्याचारोंसे बचे रहनेकी चिन्ता भी लगी रहती थी। फलतः सूफ़ी मतका प्रचार गुप्त रूपसे ईसाई

मतके आरम्भिक कालकी भागती प्रार्थनाओंकी तरह[1] होना अनिवार्य था। मन्सूर और सरमदकी तरह और भी कितने ही इश्क़बाज़ोंको जानके लाले पड़ गये होंगे, क्योंकि तसव्वुफ़को इस्लाम सुदृष्टिसे नहीं देखता था।

उर्दू-हिन्दीमें तसव्वुफ़ फ़ारसीसे ही आया है, इसलिये यह भी जान लेना चाहिये कि वहाँ इसके ग्रन्थ कैसे हैं। फारसी भाषामें तसव्वुफ़के ग्रन्थोंमें मौलाना रूमकी मस्नवी[2] बहुत प्रसिद्ध और प्रामाणिक है। तेरहवीं ईस्वी शताब्दीमें मौलाना रूम हुए हैं। इनका पूरा नाम जलालुद्दीन रूमी है। फारसीमें अध्यात्म विद्या और आचारशास्त्रकी सबसे पुरानी पुस्तक हकीम सनाईकी 'हदीक़ा' है। इसमें शरीर और मनके संसर्गसे उत्पन्न आत्माके रहस्य खोले गये हैं तथा धृति, शौच, दया, भक्ति आदि धर्मलक्षणोंका विशद वर्णन किया गया है। दूसरी पुस्तक ख्वाज़ा फ़रीदुद्दीन अत्तारकी "मस्नवी अत्तार" है। इन दोनो आध्यात्मिक विद्वानोंके विषयमें मौलाना रूम खुद फर्माते हैं कि "अत्तार रूह बूद सनाई दोचश्मे मा" अर्थात् अत्तार मेरी आत्मा है और सनाई दोनो आँखें हैं। मौलाना रूमकी मस्नवी फारस, बुखारा, अफगानिस्तान और भारत आदि देशोंमें ऐसे ढंगसे गायी जाती है कि सुननेवाले प्रेमके मारे विह्वल और मूर्च्छित हो जाते हैं। मौलाना रूम आत्मवाद, अद्वैतवाद और पुनर्जन्मके माननेवाले थे। उनका यह पद्य उनके ईश्वर-प्रेमका साक्षी है।

शादबाश ऐ इश्क़ ख़ुश सौदाए मा।।
ऐ तबीबे जुमला इल्लत-हाय मा।।

---

१. आरम्भमें मतोंकी असहिष्णुताके कारण ईसाइयोंको यहूदी विरोधियोंसे बड़े कष्ट मिले। अपने ढंगपर वे प्रार्थना नहीं करने पाते थे, इसलिये भागते हुए प्रार्थना कर लेते थे। ईसाई मतके इतिहासमें ये भागती प्रार्थनाएँ प्रसिद्ध हैं।

२. कल्पित प्रेम कथा काव्यको फारसीमें मस्नवी कहते हैं।

ऐ दवाए नखवतो नामूसे मा।
ऐ तो अफ़लातूनो जालीनूसो मा।।

ऐ इश्क़ मेरे अच्छे पालगपन, ऐ मेरी सब बीमारियोंके वैद्य, ऐ मेरे अभिमान और सिद्धिकी दवा और ऐ मेरे अफ़लातून और जालीनूस खुश रहो।

इस ग्रन्थके विषय में श्रीयुक्त महेशप्रसाद (साधु) मौलवी फ़ाज़िलने "मौलाना रूम और उनका काव्य" की भूमिकामें लिखा है कि "मौलाना रूम १३ वीं शताब्दी ईस्वीमें हुए हैं। उस समय तथा उससे पूर्वकालमें अफगानिस्तान, बल्ख, ईरान तथा अरबका बहुत कुछ सम्बन्ध भारतसे से था। ××× अलबेरूनी, मसऊदी वा अन्य कई विद्वानोंद्वारा भारतीय विद्या तथा ज्ञानकी चर्चा बहुत कुछ उन देशोंमें फैल गयी। निदान निर्विवाद रूपसे इस बातको मानना पड़ता है कि 'मौलाना रूमकी बहुतसी सार-गर्भित बातें वास्तवमें भारतीय विद्या तथा ज्ञानके आधारपर हैं।[1]

परन्तु इसी भारतीय विद्याको तसव्वुफ़का जामा पहनाकर मुसलमान सूफियोंने हमारे सामने रखा। जिस सूफ़ी सम्प्रदायमें अपनी जानकी बाजी लगानेवाले मन्सूर और सरमद जैसे इश्क़बाज़ हुए, उसीमें आगे चलकर

---

१. पञ्चतंत्रका भाषान्तर ईरानके शाह खुसरो नौशेरवांने हकीम बरजोरसे पहलवी भाषामें कराया था। उसका शासन-काल सन् ५३१ से ५७९ ईस्वी था। इससे स्पष्ट है कि मौलाना रूमने अपनी मस्नवीमें शेर और खरगोशकी जो कहानी लिखी वह पञ्चतंत्रकी

बद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम्।
पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः।।

कहानीके आधारपर ही है। अवश्य ही इसका उपयोग मौलानाने अपने ढंगपर कर लिया है। उपनिषदोंका उल्था भी नौशेरवांके समयमें हो चुका था, इसलिये मौलानाकी मस्नवी लिखनेके समय भारतीय आत्म-विद्याका पता अवश्य था, यह निश्चय है।

ऐसे अनाचारी निकले कि अमीर ख़ुसरो सूफ़ीके शागिर्द होनेपर भी सूफ़ियोंसे असन्तुष्ट रहते थे। फिर भी सूफ़ी सम्प्रदायमें ख़ुसरोकी कविता बड़े आदर की दृष्टिसे देखी जाती है, जिसे सुनकर सूफी साधु आपेमें नहीं रहते सिर धुनते धुनते बावले हो जाते हैं और कभी कभी मर भी जाते है। कुछ सूफियोंने ही खुले हुए इश्क़े मजाज़ीको छिपा हुआ इश्क़े हक़ीक़ी ज़ाहिर किया है और बड़े बड़े रिन्द, शराबी, और अनाचारी फकीरों और शाइरोंको पहुँचा हुआ सूफ़ी कहकर इन्हीं लोगोंने पुजवाया है।

उमर ख़य्यामके बारेमें लिखते हुए मौलाना शिबलीने सूफियोंकी भी खबर ली है। उन्होंने लिखा है :—

"साफ़ साबित है कि वह दरहक़ीक़त शराब पीता था और यह ज़ाहिरा शराब पीता था। अफ़सोस है कि वह फ़िलसफी और हकीम (दार्शनिक) था, सूफ़ी न था, वर्ना हाफ़िज़की तरह यही शराब—शराबे मार्फ़त बन जाती।"

फ़ारसीके सुप्रसिद्ध कवि शेख सादी शीराज़ी कहते हैं:—

मोहत्सिब दर क़फ़ाए रिन्दानस्त,
ग़ाफ़िल अज़ सूफ़ियाने शाहिद बाज़।

अर्थात् कोतवाल बेचारे रिन्दोंके पीछे पड़ा है और इन बदकार सूफ़ियों-के हथकंडोंसे बेखबर है; इन्हें नहीं पकड़ता।

गूढ़ विषयोंको कथाकहानी द्वारा वर्णन करनेकी परिपाटी बहुत प्राचीन है। कहीं तो ऐसा अलंकार और रूपक बाँधकर व्याख्या की जाती है कि साधारण पाठक अलंकार न समझ शब्दोंसे निकलनेवाले अर्थको ही सत्य मान लेते और कहानीको कहानी नहीं समझते और कहीं सूत्र-रूपसे कही हुई बातको विस्तार करके ग्रन्थ लिखे जाते हैं। जैसे वेदमें वृत्र-इन्द्र संग्राम और अहल्याकी कथा आलंकारिक है। वृत्र मेघको कहते हैं और इन्द्र-सूर्य मेघको फाड़-कर निकलते हैं। यही वृत्र और इन्द्रका युद्ध है। पुराणोंमें इन बातोंका विस्तार कर अलंकार और भी बढ़ाया गया है।

वहाँ वृत्रको असुर बताकर इन्द्रसे उसका घोर युद्ध कराया गया है। इसी प्रकार अहल्या—रात, रात न कहकर गौतम-पत्नी बतायी गयी है और उसपर इन्द्रका आक्रमण वर्णित हुआ है। बौद्धोंकी जातक कथाओंका उद्देश्य भी धर्मके गहन विषयोंको सरल करके समझाना है। कथाएँ बहुधा काल्पनिक होती थीं, परन्तु उनका प्रयोग धर्मकी व्याख्या करनेके लिये किया जाता था। यही बात सूफी मस्नवियोंकी भी है। मस्नवीकी कहानी कल्पित होती है और उसकी कवितामें क़ाफ़ियेबन्दी (अनुप्रास) होती है—तुक-हीन कविता नहीं होती। मौलाना रूमने जानवरोंकी और कहीं-कहीं आदमियोंकी कहानियों द्वारा प्रेम या इश्क़का उपदेश दिया है; क्योंकि उन्होंने लिखा है :—

खुशतराँ बाशद कि सिर्रे दिलबरां।
गुफ़्त आयद दरहदीसे दीगरां॥

अर्थात् यह अच्छा है कि प्रेमपात्रोंके रहस्य दूसरोंके वार्त्तालापके द्वारा प्रकट हों।

हिन्दीके सूफी कवियोंने भी इसी पद्धतिका अनुसरण किया है। नायक और नायिकाके रूपलावण्य और प्रेमका वर्णन करते करते ये कवि इश्क़े मजाज़ीको इश्क़े हक़ीक़ीकी ओर ले जाते हैं और वहाँ अलंकारका रहस्य खोलते हैं। ख़ुसरोकी मुकरियोंकी तरह अन्तमें कवि कहता है कि यह प्रेमगाथा वैसी नहीं है, जैसी पाठक अबतक समझता आता है, बल्कि यह कुछ और ही है। किसी दूसरी तरफ़ इशारा है। कुतबन शेख़ने मृगावती, मंझनने मधुमालती और मलिक मुहम्मद जायसीने (पद्मावत) काव्य मस्न-वियोंकी तरह लिखा है। मुग्धावती, प्रेमावती और स्वप्नावतीके सिवा उस्मान कविकी चित्रावली, कासिमशाहकी हंस जवाहिर और नूरमुहम्मद की इन्द्रावत या इन्द्रावती इसी तरहकी प्रेम-कथाएँ हैं। परन्तु जायसीकी पद्मावतीके सामने ये सभी काव्य फीके हैं।

जायस ग्राम जिला रायबरेलीमें रहनेके कारण मलिक मुहम्मद

जायसी कहलाते थे। जायस बैसवाड़ेमें है, इसलिये पद्मावतकी भाषा भी बैसवाड़ेकी भाषा अर्थात् वहाँकी भाषा है जहाँ पश्चिमी हिन्दीका पूर्वकी हिन्दीसे प्रथम समागम होता है। इसके नायक चित्तौरके राजा रतनसेन और नायिका सिंहलकी राजकुमारी पद्मावती है। इसमें बताया गया है कि प्रेमका पन्थ बड़ा कंटकाकीर्ण है और जो बाधा-विघ्नको पार कर जाता है, उसीको प्रेयसी-सिद्धि अथवा ब्रह्मज्योतिकी प्राप्ति होती है। चूँकि जायसी मुसलमान थे और इस्लामपर इनकी भक्ति भी थी, इससे रसूल और चार यारोंकी तारीफ शुरूमें की थी। कथाका वर्णन ऐसे ढंगसे किया है कि पढ़ने सुननेवाला समझ ही नहीं सकता कि वर्णन करनेवाला इतर धर्मावलम्बी है। क्या वैवाहिक आचार-व्यवहार और क्या पूजा-पाठका विधान सभी ऐसी उत्तम रीतिसे विधिवत् वर्णित किये हैं कि कोई हिन्दू कवि भी क्या कहेगा। जायसीकी वर्णन करनेकी शैली बड़ी ही चमत्कारपूर्ण है और इसलिये जो कुछ उन्होंने कहना चाहा है, उसका रूप सामने खड़ा कर दिया है।

पद्मावतीकी कथा संक्षेपसे इस प्रकार है:—

सिंहलद्वीपके राजा गन्धर्वसेनकी कुमारी पद्मावती रूप गुणमें अद्वितीय थी। इसके पास हीरामन नामक बड़ा सुन्दर और पण्डित तोता था। राजाके कोपके कारण सिंहलसे उड़कर वह चित्तौर पहुँचा, जहाँ राजा रतनसेनने उसे किसीसे एक लाख रुपयेमें खरीद लिया। एक दिन राजाकी अनुपस्थितिमें उसकी रानी नागमतीको अपने रूपका गर्व हुआ, तो उसने तोतेसे पूछा कि संसारमें मेरे समान भी कोई सुन्दरी है? तोतेने जवाब दिया कि सिंहलकी राजकुमारी पद्मिनी और तुममें दिन और अँधेरी रातका अन्तर है। रानी लज्जित हुई और इस डरसे कि कहीं तोता राजासे पद्मिनीका हाल न कह दे, चेरीको आज्ञा दी कि तोतेको मार डाल। पर राजाके भयसे चेरीने उसे न मारकर अपने घरमें छिपा रखा। राजाने लौटकर जब तोतेको न देखा, तब व्याकुल हुआ। जब तोता लाया गया, तब उसने सारी बातें कहकर पद्मिनीके रूप-लावण्यका बखान किया। सुनते ही राजा मूर्छित

हो गया और उसकी खोजमें जोगी बनकर घरसे निकल पड़ा। आगे आगे तोता था और इसके पीछे पीछे १६ हजार राजकुँवर जोगियोंके वेशमें थे। कलिंगसे जहाजोंपर सवार हो यह जोगीदल अनेक कष्ट झेलता हुआ सिंहल पहुँचा।

राजाने एक शिवमन्दिरमें डेरा डाला और जोगियोंके साथ पद्मावती-का ध्यान और जप करने लगा। हीरामनने पद्मावतीको समाचार दिया। राजाके सच्चे प्रेमके प्रभावसे पद्मावती भी व्याकुल हुई और श्रीपंचमीके दिन शिवपूजनके लिये मन्दिरमें गयी। परन्तु राजा उसकी सुन्दरताको देख मूर्च्छित हो गया और वह लौट गयी। चेतना होनेपर राजा बड़ा अधीर हुआ। पद्मावतीने जब यह सुना तो कहलाया कि उस समय तो तुम चूक गये; अब तो गढ़पर चढ़ाई करो, तभी मुझे पा सकते हो। शिवजीसे सिद्धि प्राप्त कर राजा जोगियोंसहित गढ़में घुसने लगा, पर सवेरा हो जानेके कारण पकड़ लिया गया। गन्धर्वसेनकी आज्ञासे जब रतनसेनको सूली-पर चढ़ानेके लिये लोग लिये जा रहे थे, तब १६ हजार जोगियोंने गढ़पर धावा बोल दिया और उसे घेर लिया। महादेव, हनुमान आदि देवताओंकी सहायतासे रतनसेनकी जीत हुई। जोगियोंमें महादेवजीको पहचान गन्धर्व-सेनने उनसे कहा कि आप जिसे चाहें पद्मावती दे दीजिये। बादको रतनसेन पद्मावतीको व्याह चित्तौर ले आये।

रतनसेनकी सभामें राघवचेतन एक पण्डित था। उसे यक्षिणी सिद्ध थी, इसलिये प्रतिपदाके दिन इसने चन्द्रमा दिखा दिया था। इसपर राजाने इसे निकाल दिया था। राजासे बदला लेनेके लिये राघवने अलाउद्दीन बादशाहसे पद्मिनीके सौन्दर्यकी बड़ी प्रशंसा की। फल यह हुआ कि अला-उद्दीनने रतनसेनसे कहला भेजा कि पद्मिनीको मेरे पास भेज दो। यह सुन राजा क्रुद्ध हुआ और लड़ाईकी तैयारी करने लगा। अलाउद्दीनने चित्तौर तो घेर लिया, पर गढ़में घुस न सका। इसलिये सन्धिके प्रस्तावका छल किया। जब दोनो शतरंज खेल रहे थे, तब अलाउद्दीनको पद्मिनीके रूपकी झलक दर्पणमें दिखायी दी, तो मूर्च्छित हो गिर पड़ा। प्रस्थानके दिन

जब राजा बाहरी फाटकतक उसे पहुँचाने गया, तब अलाउद्दीनके छिपे हुए सैनिकोंने राजाको कैद कर दिल्ली भेज दिया।

पद्मिनी पहले तो व्याकुल हुई, अनन्तर राजा के उद्धारकी चेष्टा करने लगी। गोरा और बादल नामके दो वीर क्षत्रिय ७०० पालकियोंमें सशस्त्र सिपाही छिपाकर दिल्ली पहुँचे और बादशाहसे कहलाया कि पद्मिनी रतनसेनसे मिलकर हरममें जायगी।

बादशाह इस चकमेमें आ गया। बस, एक पालकी रतनसेनकी कोठरीके सामने रख दी गयी, जिससे निकलकर एक लुहारने राजाकी बेड़ियाँ काट दीं और राजा पहलेसे ही तैयार घोड़ेपर सवार हो निकल भागा। गोरा तो शाही फौजको रोकता रहा और बादलने रतनसेनको चित्तौर पहुँचा दिया। चित्तौरमें पद्मिनीने उससे कहा कि कुम्भलनेरके राजा देवपालने दूती भेजी थी, तो उसने कुम्भलनेर जा घेरा। लड़ाईमें देवपाल और रतनसेन दोनो काम आये। रतनसेनकी मिट्टी चित्तौर लायी गयी और दोनो रानियाँ—पद्मावती और नागमती सती हो गयीं। जब अलाउद्दीन चित्तौर पहुँचा, उसे राखका ढेर मिला।

अन्तमें कविने कथाका रहस्य इस प्रकार खोला है :—

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंगल बुधि पद्मिनी चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत् को निर्गुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउद्दीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा यहि भांति विचारू। बूझि लेहु जो बूझहि पारू॥

हिन्दीपर सूफियोंके साहित्यका कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि इन सूफी कवियोंके बाद हिन्दीमें तसव्वुफ़ सम्बन्धी कविताका पता नहीं मिलता। इसके साथ ही गो० तुलसीदासकी सगुण ब्रह्मसम्बन्धी कविताका लोगोंपर खूब प्रभाव पड़ा और आज भी पड़ रहा है, क्योंकि रामायणके पात्र लोगोंके परिचित हैं।

हिन्दीपर फ़ारसीका प्रभाव कैसे पड़ा ?

हिन्दीपर फ़ारसीके प्रभावका विचार करते समय हमें न भूलना चाहिये कि हिन्दी शब्दका यहाँ व्यापक अर्थमें प्रयोग किया गया है अर्थात् हिन्दी शब्दके अन्तर्गत उर्दू रूप भी आ गया है। फारसीका प्रभाव हिन्दीपर दो प्रकारसे पड़ा है, एक तो उर्दू रूपसे और दूसरे उर्दू ारा। उर्दूरूप फारसीका प्रत्यक्ष प्रभाव है और इसके मुख्य सहायक हैं—(१) लिपि, (२) व्याकरण (३) पिंगल, (४) इस्लामी संस्कृति और इस्लामी देशोंका इतिहास, तथा भारतीय संस्कृति और इतिहासके ज्ञानका अभाव और उसकी उपेक्षा, (५) लेखन-शैली, (६) इस्लामी देशोंके शब्दों और मुहावरोंका अधिक प्रयोग तथा हिन्दी शब्दोंका बहिष्कार, और (७) अरबीके पारिभाषिक शब्द । कैसे ? देखिये।

(१) मुसलमान इस देशमें परदेशी थे और परदेशियोंके लिये भाषा सीखना जितना सुगम और आवश्यक होता है, उतना लिपि सीखना नहीं होता। इसीलिये मुसलमानोंने भाषा तो सुनसुनाकर सीख ली और अपने शब्द मिलाकर काम चलाने लगे; परन्तु लिपि न सीखी और अपनी ही लिपिमें हिन्दी भी लिखने लगे। यह कल्पना नहीं है, बल्कि खुसरोकी एक पहेलीसे सिद्ध भी हो चुका है। इसके सिवा अंगरेज़ोंने शुरू शुरूमें जब उर्दू और हिन्दी सीखी थी, तब "बागो-बहार" और "प्रेमसागर" के रोमन लिपिमें संस्करण बन गये थे। हिन्दीके अन्दरसे लिपि भिन्नताके कारण ही उर्दू की नीव पड़ी।

(२) उर्दू आर्य भाषा है और फ़ारसी भी आर्य भाषा है। फारसी, शेमिटिक भाषा अरबीके प्रभावमें आनेके कारण भीतरसे आर्य रहनेपर भी बाहरसे अनार्य हो गयी और इस आर्य-अनार्य भाषाका प्रभाव जब हिन्दी-पर पड़ा, तो व्याकरणका रूप ही बदल गया। मुसलमान हिन्दी पढ़ते

ही न थे, इसलिये हिन्दीका व्याकरण नहीं जानते थे यह कहना बहुत बड़ी बात है; क्योंकि औरंगजेबके ज़मानेमें मीरज़ा ख़ाँ इब्न फ़ख़रुद्दीन मुहम्मदने "क़वायद कुल्लियात भाखा"[१] लिखकर फारसी भाषियोंके लिये ब्रज भाषाका व्याकरण सुलभ कर दिया था, जिससे नागरी भाषाकी प्रकृतिका परिचय उन्हें अनायास हो सकता था। परन्तु उर्दू व्याकरण जितने बने, सब अरबी व्याकरणके आधारपर और अरबी परिभाषाओं से युक्त थे और हैं। आर्य भाषापर यह अत्याचार देखकर भी इसका प्रतिकार किसीसे न बन पड़ा यह अत्यन्त खेदकी बात है। आश्चर्यका विषय है कि अञ्जुमने तरक़्क़ीए उर्दू के सेक्रेटरी और त्रैमासिक उर्दूके सुयोग्य सम्पादक मौलाना अब्दुलहक़ साहबतक कुछ नहीं कर सकते। उन्होंने अपनी "क़वायदे उर्दू" की भूमिकामें जो लिखा है, उसका भावार्थ इस प्रकार है :—

"हमारे यहाँ अबतक जो पुस्तकें व्याकरणकी प्रचलित हैं, उनमें अरबी व्याकरणका अनुकरण किया गया है। उर्दू ख़ालिस आरिया ज़बान है और इसका सम्बन्ध सीधा आर्य भाषाओंसे है। इसके विरुद्ध अरबी भाषाका ताल्लुक़ सेमेटिक (सामी-अनार्य) भाषाओंके परिवारसे है। इसलिये उर्दूका व्याकरण लिखनेमें अरबी ज़बानका अनुकरण किसी तरह जायज़ नहीं। दोनो ज़बानोंकी विशेषताएँ बिल्कुल पृथक्-पृथक् हैं, जो विचारने से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा। इसी तरह अगर्चे उर्दू हिन्दुस्तानमें जन्मी है और इसकी बुनियाद पुरानी हिन्दीपर है—क्रियापद, जो भाषाका प्रधान अङ्ग है, और सर्वनाम तथा कारकचिह्न सबके सब हिन्दी हैं, सिर्फ संज्ञा और विशेषण अरबी फ़ारसीके दाखिल हो गये हैं और कुछ थोड़ेसे नाम धातु जो कुछ अरबी फ़ारसी अलफ़ाज़से बन गये हैं, जैसे बख़्शना, क़बूलना, तजवीज़ना वग़ैरह, वह किसी शुमारमें नहीं। बल्कि कुछ प्रतिष्ठित लोगोंके

---

१. A grammar of the Braj Bhakha by Mirza Khan, Visva Bharati Book-shop, 210 Coarnwallis St., Calcutta.

मतमें ऐसे पद सही भी नहीं, फिर भी उर्दू भाषाके व्याकरणमें संस्कृत नियमों की भी परिपाटीका पालन नहीं किया जा सकता।"[1]

(३) उर्दू कई शताब्दियोंतक तो मुसलमानोंकी बोलचालकी भाषा रही और उत्तर भारतमें यद्यपि यह हिन्दी और रेख़्ता कहलाती थी, परन्तु दक्षिणमें पहुँचकर दकनी अर्थात् दक्षिणी कहलाने लगी। वहीं इसने साहित्य-क्षेत्रमें प्रवेश किया। वहाँके लोगोंकी भाषा हिन्दी तो थी ही नहीं, आर्य-भाषा भी न थी, इससे वहाँकी भाषाओंसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता था और इसलिये उत्तरसे गये हुए मुसलमानोंकी भाषा हिन्दी, जो प्रारंभिक रूपमें ही थी, फ़ारसीसे ही अपना भण्डार भरनेके लिये लाचार हुई। फ़ारसीका क़वायद (व्याकरण) और फ़ारसीका ही अरूज़ (पिंगल) लेकर ही दकनी साहित्य-क्षेत्रमें अवतीर्ण हुई। इस विषय में मौ० अब्दुल हक़ साहबने लिखा है :—

"......मुहम्मदकुली 'कुतुबशाह' की हुकूमत गोलकुण्डामें थी, जहाँ कि सरकार और दरबारी ज़बान फ़ारसी थी और रिआयाकी ज़बान तिलंगी (तेलुगु)। यही हाल आदिलशाहियोंका बीजापुरमें था कि मुल्क-के आसपासकी जबान 'कनड़ी' (कानड़ी) थी। यह दोनो जबानें 'द्रावड़ी' हैं और इन्हें आरियाई (आर्य) जबानोंसे कोई ताल्लुक़ नहीं। इसलिये ज़ाहिर है कि इस मुल्कमें जब उर्दूने सूरत अख़्तियार की, तो इसके ख़तो-ख़ाल (चेहरा-मुहरा-आकृति) क्या होंगे। तिलंगी (तेलुगु) और कनड़ी (कानड़ी) दोनो अजनबी और गैरमानूस (अपरिचित) इनसे किसी क़िस्मका मेल हो ही नहीं सकता। लामहाला (अन्ततोगत्वा) फ़ारसीका रङ्ग इस (उर्दू) पर चढ़ गया। अव्वल तो फ़ारसी आरियाई, दूसरे सदहा-सालकी यकजाई, दोनो ऐसी घुलमिल गयीं, जैसे शीरोशकर (दूध और खांड़) आम असनाफ़े सख़ुन (कविताके प्रकार) मसलन् मस्नवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल उर्दूमें भी बिला तकल्लुफ़ आ गये। अलफ़ाज़ (शब्द) तशबी-

---

1. क़वायदे उर्दू, मुक़द्दमा पृष्ठ १८।

हात (उपमाएँ) इस्तआरात (रूपक) बने-बनाये तैयार मिल गये। अलफ़ाज़के साथ ख़यालात भी दाख़िल हो गये और क़सीदे मस्नवी, रुबाई और ग़ज़लमें भी वही शान आ गयी जो फ़ारसीमें पायी जाती है, लेकिन सबसे बड़ा इनक़लाब (क्रान्ति) जिसने उर्दू व हिन्दीमें इम्तियाज़ (भेद) पैदा कर दिया, वह यह था कि अरूज़में (पिंगलमें) भी फारसीकी ही तकलीद (अनुकरण) की गयी है और बग़ैर किसी तग़य्युरो तबद्दलके (परिवर्त्तनके) उसे उर्दूमें ले लिया। फ़ारसीने इसे अरबीसे लिया था और उर्दू को फ़ारसीसे मिला। अगर उर्दूको अबदी नशोनुमा (साहित्यिकविकास) दकन (दक्षिण) में हासिल न हुई होती, तो बहुत मुमकिन था कि बजाय फारसी अरूजके हिन्दी अरूज़ होता, क्योंकि दोआबा गंगो-जमनमें (अन्तर्बेदमें) आसपास हिन्दी थी और मुल्ककी आम ज़बान थी। बख़िलाफ इसके दक़नमें सिवाय फ़ारसीके कोई इसका (उर्दूका) आश्ना (प्रेमी) न था। और यही वजह हुई कि फ़ारसी इसपर छा गयी। वरना यह जो थोड़ासा इम्तियाज़ (भेद) उर्दू-हिन्दीमें पाया जाता है, वह भी न रहता और ग़ालिबन (सम्भवतः) यह उर्दूके हक़में बहुत बेहतर होता।"

"अरूजका क़ौमी ज़बान ख़यालातसे ख़ास लगाव होता है। उर्दूने इब्तिदासे (आरम्भसे) यानी जबसे इसे अदबी हैसियत (साहित्यिक पद) मिली है, ग़ैर ज़बानका अरूज़ अख्तियार किया। अगर बजाय फ़ारसी अरूज़के हिन्दी अरूज़ होता, तो हिन्दी-उर्दू नज़्म (पद्य) और ज़बानमें वह मग़ायरत (परायापन) जो इस वक़्त नज़र आती है, न रहती या बहुत कुछ कम हो जाती।"[1]

(४) जब मुसलमानोंने उर्दूमें साहित्य रचना आरम्भ किया, तब उनमें ऐसे साहित्यिक नहींके बराबर थे, जो इस्लामी देशोंके इतिहास और संस्कृतिके सिवा और भी किसी संस्कृति अथवा इतिहासका पता रखते हों

---

१. "कुल्लियात सुलतान मुहम्मदकुली कुतुबशाह" पर मौ० अब्दुलहक साहबकी नोट "उर्दू" त्रैमासिक जनवरी १९२२।

और भारतके तो वे बादशाह थे, इसलिये इसकी संस्कृति, साहित्य और इतिहासको उन्होंने कभी जाननेयोग्य ही नहीं समझा। इस कथनकी पुष्टिमें "दरिया-ए लताफ़त" से सैयद इनशाअल्ला खांकी यह राय उद्धृत की जाती है :—

"बर साहबे-तमीज़ाँ पोशीदा नीस्त कि हिन्दुआँ सलीक़ा दर रफ़्तारो-गुफ़्तार व खुराको पोशाक अज़ मुसलमानन याद गिरफ्ताअन्द। दरहेच मुक़ाम क़ौलोफ़ेल ईहाँ मनाते ऐतबार न मी तमानाद शुद।"

अर्थात् बुद्धिमानोंसे यह बात छिपी नहीं है कि हिन्दुओंने बोलचाल, चालढाल, खाना और पहनना इन सब बातोंका सलीका मुसलमानोंसे सीखा है, किसी बातमें भी इनकी बात और काम विश्वास योग्य नहीं।

लार्ड मेकालेने बंगालियोंकी निन्दामें जो कुछ लिखा हैं, वही सैयद इनशाकी कुछ पंक्तियोंमें सारी हिन्दूजातिके विषयमें कह दिया गया था, यद्यपि अलबेरुनीकी 'किताबुल हिन्द" से ये हिन्दू संस्कृतिके विषयका ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। क्या आश्चर्य है कि सैयद इनशाकी अज्ञतापूर्ण बातें पढ़कर कई तथोक्त हिन्दू अपनी हीनताका अनुभव करने लगें और मुसलमानोंको सभ्यशिरोमणि मानने लगें। सच तो यह है कि उस समयके मुसलमान लेखक गूलरके कीड़ेकी तरह इस्लामी जगत्को ब्रह्मांड समझते थे। इस समझके कारण उनकी कविताका विषय उनका परिचित संसार ही होता था।

(५) हिन्दी और उर्दूकी लेखनकलामें अन्तर है, क्योंकि हिन्दीका अक्षय भण्डार संस्कृति और प्राकृत तथा उर्दूका अरबी-फारसी है। फारसी-की देखादेखी उर्दूके कवियोंने भी बुलबुल और गुलपर कविता की हैं, जो ईरानी उपमाओं और उपमानोंसे भरी पड़ी है। आँखकी उपमा हमारे यहाँ कमल, मीन और हरिनकी आँखसे दी जाती है, यथा, पद्मनेत्रा, मीनाक्षी, और मृगनयनी। "हरिनीके नैनानते हरि नीके ये नैन" कहते हैं। यहाँ बड़ी-बड़ी आँखें हृदयानन्ददायिनी समझी जाती हैं। नवाब ख़ानेख़ानाँने भी अपनी हिन्दी कवितामें "ज्यों बड़री अँखियान लखि आँखिनको सुख

होत" लिखा है। पर उर्दू फारसीके हिन्दुस्तानी शाइरोंने आँखकी उपमा "नर्गिस" और "बादाम" से दी है। मौलाना शिबलीको यह बात बहुत खटकी,इसलिये उन्होंने लिखा कि "आँखकी तशबीह (उपमा) नर्गिससे आम (प्रसिद्ध) है, लेकिन नर्गिसको देखा तो उसका फूल एक गोलसी कटोरी होती है, जिसका आँखसे मुनासिबत (सादृश्य सम्बन्ध) नहीं। खोजसे मालूम हुआ कि इब्तदाए शाइरीमें (फारसी कविताके प्रारम्भिक कालमें) तुर्क माशूक़ थे। उनकी आँखें छोटी और गोल होती हैं, इसी बिना (आधार) पर पुराने शाइर आँखोंके छोटे होनेकी तारीफ करते हैं।"

यही हाल बुलबुल और गुलाबका है। फारसमें तो वसन्त ऋतुमें गुलाब खिला और बुलबुल आकर उसपर बैठकर चहचहाने लगी तो चहचहाते और बोलते बोलते मस्त हो जाती; उसका सीना फट जाता और वह मर जाती है। भारतमें ऐसी घटना कभी हुई ही नहीं, पर तो भी यहाँके उर्दू फारसीके शाइर बुलबुलका वैसा ही रोना रोते हैं। इसी तरह प्रेमका प्रारम्भ यहाँ पहले स्त्रीकी ओरसे होता है और फिर उसकी प्रेमचेष्टा देखकर पुरुषोंकी ओरसे। परन्तु उर्दू फारसीके शाइरोंकी लीला ही विचित्र है। वहाँ स्त्रीका अधिकार वा अस्तित्व ही नहीं है। प्रेमी पुरुष प्रेम-पात्र पुरुषपर आसक्त होता है जो अप्राकृत है। यद्यपि मौलाना हाली और शिबलीने इसकी निन्दा की है, तथापि उर्दू कवियोंकी प्रकृति बदलनेमें वे समर्थ नहीं हुए।

उर्दू और हिन्दीकी लेखनकलामें क्यों और कैसे आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया, इस विषयमें मौलाना मुहम्मद हुसैन "आजाद" मरहूम अपनी "आबेहयात" किताबमें लिखते हैं :—

"शाइराना उर्दूका नौजवान जिसने फ़ारसीके दूदसे परवरिश पायी, उसकी तबियतमें बहुतसे बुलन्द ख़यालात (उच्च विचार) और मुबालग़ा मज़ामीन (अतिशयोक्त विषयों) के साथ वह हालात और मुल्की रस्में और तारीख़ी इशारे (ऐतिहासिक संकेत) आ गये जो फ़ारस और तुर्किस्तानसे खास ताल्लुक रखते थे और भाषाके तबई मुख़ालिफ़ (प्रकृतिके

विरोधी) थे। साथ इसके फ़ारसीकी नज़ाकत (कोमलता) और लता-फ़त तबई (प्राकृतिक सुघड़पन) के सबबसे उर्दूके ख़यालात (विचार) अक्सर ऐसे पेचीदा (जटिल) हो गये कि (जो) बचपनसे हमारे कानमें पड़ते और ज़ेहनों (ध्यानों) में जमते चले आते हैं, इसलिये हमें मुश्किल नहीं मालूम होते। अनपढ़ अनजान या ग़ैर-ज़बानवाला (अन्य भाषाभाषी) इन्सान सुनता है, तो मुँह देखता रह जाता है कि यह क्या कहा। इसलिये उर्दू पढ़नेवालेको वाजिब है कि फ़ारसीकी इन्शापर्दाज़ी (लेखनकला) से ज़रूर आगाही (अभिज्ञता) रखता हो।

"फ़ारसी और उर्दू की इन्शापरदाजी (लेखनकला) में जो दुश्वारी (कठिनाई) है और हिन्दीकी इन्शामें जो आसानी है, उसमें एक बारीक नुकता (महीन बात) ग़ौरके लायक़ (ध्यान देने योग्य) है। वह यह है कि भाषा जिस शै (चीज़) का बयान करती है, उसकी कैफ़ियत हमें उन ख़तो-ख़ालसे (आकृतिसे) समझाती है, जो ख़ास उसी शैके देखने, सुनने, सूँघने, चखने या छूनेसे हासिल होती है। इस बयानमें अगर्चे मुबालग़ेके ज़ोर (अतिशयोक्तिका प्राबल्य) या जोशो ख़रोश (उत्साह और चिल्लाहट) की धूमधाम नहीं होती, मगर सुननेवालेको असल शैके देखनेसे जो मज़ा आता है, वह सुननेसे आ जाता है। बरख़िलाफ़ शोअराय फ़ारसके कि (इसके विरुद्ध फ़ारसके कविजन हैं) यह जिस शैका ज़िक्र करते हैं साफ़ उसीकी बुराईभलाई नहीं दिखाते, बल्कि इसके मुशाबा (सदृश) एक और शै, हमने जिसे अपनी जगह अच्छा या बुरा समझा हुआ है, उसके लवाजमातको (आवश्यक अंगोंको) शै अव्वल (प्रथमोक्त वस्तु) पर लगाकर इनका बयान करते हैं। मसलन् (उदाहरणार्थ) फूलकी नज़ाकत (कोमलता रंग और ख़ुशबूमें माशूक़के मुशाबिह (समान) है। जब गर्मीकी शिद्दत (अधिकता) में माशूक़के हुस्न (सौन्दर्य) का अन्दाज़ा (ढंग) दिखाना हो तो कहेंगे कि मारे गर्मीके फूलके रुख़सारोंसे (गालोंसे) शबनम (ओस) का पसीना टपकने लगा।

"यह तशबीहें (उपमाएँ) और इस्तआरे (रूपक) अगर पास पासके

हों और आँखोंके सामने हों तो कलाम (वक्तव्य) में निहायत लताफ़त (आनन्द) और नज़ाकत (कोमलता) पैदा होती है। लेकिन जब दूर जा पड़ें और बहुत बारीक पड़ जायँ तो दिक़्क़त हो जाती है। चुनाँचे हमारे नाज़ुक ख़याल (कोमल विचार) किसी बादशाहके इक़बाल (भाग्य) और अक़्लके लिये इस क़दर तारीफ़पर क़नाअत (सन्तोष) नहीं करते कि वह इक़बालमें सिकन्दर यूनानी या अरस्तू सानी है। बल्कि बजाय इसके कहते हैं कि इसका हुमाए अक़्ल (बुद्धिकी हुमा) ओज इक़बालसे (भाग्यकी उँचाईसे) साया डाले, तो हर शख़्स किशवर दानिश (देशका विद्वान्) व दौलतका सिकन्दर और अरस्तू हो जाये, बल्कि अगर इसके सीनेमें (हृदयमें दलायल अक़्ली (बुद्धिके तर्कों) का दरया जोश मारे तो तबक़े यूनानको (यूनानके आदमियोंकी श्रेणीको) ग़र्क़ कर (डुबा) दे। अव्वल तो हुमा की[1] यह सिफ़त (गुण) ख़ुद एक बेबुनियाद फ़र्ज़ (निराधार कल्पना) है और वह भी इसी मुल्कके साथ ख़ास है। सपर इक़बालका एक फ़लकुल अफ़लाक (आकाशोंका आकाश) तैयार करना और उसपर नुक्ताए ओजका दर्याफ़्त करना देखिये। वहाँ उनके फ़र्ज़ी (कल्पित) हुमाका जाना देखिये। फिर उसी फ़र्ज़ी हुमाकी बर्कतका इस क़दर आम (प्रसिद्ध) करना देखिये, जिससे दुनियाके जाहिल (मूर्ख) इस ख़याली (कल्पित) यूनानमें जाकर अरस्तू हो जाँय।

दूसरे फ़िक़रेमें, अव्वल तो उल्माए हिन्दने (भारतीय विद्वानोंने) तेवरसे तूफानका निकलना माना ही नहीं है। इसपर तबक़ाए यूनानका (यूनानकी श्रेणियोंका) अपने फ़िलसफ़ेकी तुहमतमें (अभियोगमें) तबाह होना वग़ैरह वग़ैरह ऐसी बातें और रवायतें (परम्पराएँ) हैं कि अगर्चे हमारे मामूली ख़यालात हों, मगर ग़ैर-क़ौम बल्कि हमारे भी आम लोग उससे बेख़बर हैं, इसलिये बेसमझाये न समझेंगे। और जब बातको ज़बानसे कहकर समझानेकी नौबत आयी तो लुत्फ़ ज़बान कुजा (भाषाका मजा कहाँ) और यह नहीं तो

---

१. हुमा पक्षी विशेष जो कल्पित ही होता है।

तासीर (प्रभाव) कुजा (कहाँ) ? मज़ा वही है कि आधी बात कही आधी मुँहमें है और सुननेवाला फड़क उठा । तार बाजा और राग बूझा । इन ख़याली रंगीनियों और फ़र्ज़ी लताफ़तों (काल्पनिक आनन्द) का नतीजा (परिणाम) यह हुआ कि बातें बदीही (प्रकट) हैं और महसूसातमें (अनुभवोंमें) अयाँ (स्पष्ट) हैं, हमारी तशबीहों (उपमाओं) और इस्तआरों (रूपकों) के पेंच दरपेंच ख़यालोंमें आकर वह भी आलमे तसव्वरमें (कल्पनाके जगत्में) जा पड़ती हैं, क्योंकि ख़यालातके अदा करनेमें हम अव्वल आशियाए बेजानको (निर्जीव वस्तुओंको) जानदार बल्कि अकसर इन्सान फ़र्ज़ (कल्पना) करते हैं। बाद इसके जानदारों और आकिलोंके लिये जो मुनासिब हाल हैं, इन बेजानोंपर लगाकर ऐसे ऐसे ख़यालात पैदा करते हैं, जो अक्सर मुल्के अरब या फारस या तुर्किस्तानके साथ क़ौमी (जातीय) या मज़हबी खुसूसियत (विशेषता) रखते हैं ।[१]

(६) उर्दू और हिन्दीमें प्रभेद बढ़ाने और उर्दूको हिन्दुस्तानी मुसलमानोंकी क़ौमी ज़बान बनानेका काम उर्दू शाइरोंने अपने ज़िम्मे ले लिया और वह इस तरह कि उर्दूसे हिन्दी शब्दों और मुहावरोंका बड़ी बेरहमीसे बहिष्कार करना फर्ज समझा । अमीर ख़ुसरो और नज़ीर अकबराबादी जैसे इने-गिने शाइरोंको छोड़कर सभी इस काममें लग गये थे । इसका क्या प्रभाव पड़ा, इस विषय में मौ० अबदुलहक साहब फर्माते हैं :—

"......बादके उर्दू शोअरा (शाइरों) पर फ़ारसीका रंग ऐसा ग़ालिब आया कि यह खुसूसियत (विशेषता) उर्दू शाइरीसे बिल्कुल उठ गयी और रफ़्ता-रफ़्ता बहुतसे हिन्दी अलफ़ाज़ (शब्द) ज़बानसे ख़ारिज हो गये और उस्तादी अलफ़ाज़के मतरूक (परित्यक्त) करनेमें रह गयी ।

"......बादमें ऐसे अदीब (साहित्यिक) और शाइर आये जो मये शीराजके मतवाले थे । इन्हें जो चीजें अजनबी और ग़ैरमानूस (अपरि-

---

१. आबेहयात पृष्ठ ५३, ५४

चित) और अपने जौक़के (रुचिके) खिलाफ़ नज़र आयीं, वह उन्होंने चुन-चुनकर फेंक दीं और बजाय हिन्दीके फ़ारसी अन्सर (अंश) ग़ालिब आ गया। इसमें वली और उसके हम-असर (समसामयिक) भी एक हदतक क़ाबिले इलज़ाम हैं।....इस ज़मानेमें मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं, जिन्होंने उर्दूमें हिन्दीकी चाशनी देकर कलाममें शीरीनी (मधुरता) पैदा कर दी है, मगर हम-असर शोअरामें इसकी कुछ क़दर न हुई।"

(७) हिन्दीको उर्दूसे अलग करनेवाली अन्तिम, पर किसीसे कम नहीं, बात यह हुई कि प्रारम्भसे ही उर्दूमें इस्तलाहात (पारिभाषिक शब्द) अरबीसे लिये गये और आज भी लिये जा रहे हैं। इसका फल यह हुआ कि हिन्दीके पारिभाषिक शब्द जो संस्कृतसे लिये जाते हैं, उर्दूवाले नहीं समझते और उर्दूके पारिभाषिक शब्द हिन्दीवालोंकी समझमें नहीं आते। इस प्रकार एक भाषाके दो रूप एक दूसरेसे जुदा हो गये और हिन्दीके लिये उर्दू और उर्दूके लिये हिन्दी भिन्न भाषा बन गयी। रेखा-गणितके तिकोनेको हिन्दीमें तो त्रिकोण कहते हैं और उर्दूमें मुसल्लस; इसी तरह कोना हिन्दीमें 'कोण' और उर्दूमें 'ज़ाविया' कहाता है। यही अन्य विज्ञानोंके पारिभाषिक शब्दोंके विषयमें समझना चाहिये। इस प्रकार हिन्दी उर्दूवालोंके लिये और उर्दू हिन्दीवालोंके लिये अपरिचित हो गयी। आश्चर्य है कि इन बातोंका कुछ ध्यान न रख हमारे कुछ राजनीतिक नेता दोनोंको एक करनेके सपने अबतक देख ही रहे हैं।

कुछ विद्वान् मुसलमान चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दूके बीचकी खाई जो दिनोंदिन चौड़ी होती जाती है, पाट दी जाय। पर जैसे अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, वैसे ही ये भी सिर्फ राय जाहिर करनेके सिवा कुछ कर नहीं सकते। फिर भी इनके मतका मूल्य है और उससे भाषाके इतिहास और संगठनपर प्रकाश पड़ता है। "वज़ै इस्तलाहात" (परिभाषा निर्माण) नामकी अपनी पुस्तकमें उस्मानिया कॉलेजके भूतपूर्व प्रोफेसर मौलवी वहीउद्दीन साहब "सलीम" पानीपती मरहूमने लिखा है:—

" मगर जो हज़रात वज़ै इस्तलाहात (परिभाषानिर्माण) में

अरबियतके (अरबीपनके) हामी हैं, वह तो फ़ारसी ज़बानसे भी इस्तलाहें बनानेके रवादार नहीं हैं, हिन्दीका तो क्या ज़िक्र है। फिर एक गिरोह (सम्प्रदाय) है, जो इस्तलाहातमें फ़ारसीकी आमेज़िशको (मिलावटको) तो जायज़ रखता है, लेकिन हिन्दी मेलसे नफ़रतका इज़हार करता है, ग़रज़े कि यह दोनो गिरोह इल्मी इस्तलाहातमें (वैज्ञानिक परिभाषाओंमें) हिन्दीकी मदाखलतको (हस्तक्षेपको) पसन्द नहीं करते। उनके नज़दीक वह इस्तलाहें, जो हिन्दी अलफ़ाज़से बनायी जाँय और हिन्दीके मखसूस (विशिष्ट) हरूफ ट, ड, ड़ और मखलूतहा (गड़बड़ किये हुए) फ, भ, थ, ढ, ह, ख, घ, ल्ह, म्ह, न्ह शामिल हों, महज़ बाज़ारी और मुब्तजल (अशिष्ट) अलफ़ाज होंगे।

"हमारे नज़दीक यह खयाल सख्त ग़लतीपर मबनी (आधारित) है। हिन्दी हमारी महबूब (प्यारी) ज़बान उर्दूके लिये, जिसको हम दिन रात घरोंमें, बाज़ारोंमें, महफ़िलों और मजलिसोंमें, मदरसों और कार-खानों और हर मुक़ाममें और हर हालतमें बोलते हैं, और इसीको हमेशा लिखते और पढ़ते हैं, बमंज़िले ज़मीनके (भूमिके समान) है। इसी ज़मीन-पर फ़ारसी और अरबीके पौदे लगाये गये हैं। इसी तख्तेपर ग़ैरजबानोंने (दूसरी भाषाओंने) आकर गुलकारी की है। अगर यह ज़मीन यानी हिन्दी निकाल दी जाय, तो फिर उर्दू ज़बानका नामो-निशान भी बाक़ी न रहेगा। हिन्दीको हम अपनी ज़बानके लिये उमुल्लिसान (भाषाकी जननी) और हमूलाये अव्वल (मूलतत्व) कह सकते हैं। इसके बग़ैर हमारी ज़बानकी कोई हस्ती नहीं है। इसकी मददके बग़ैर हम एक जुमला (वाक्य) भी नहीं बोल सकते। जो लोग हिन्दीसे मुहब्बत नहीं रखते, वह उर्दू ज़बानके हामी नहीं हैं, फारसी, अरबी या किसी दूसरी ज़बानके हामी हों तो हों। क्या वह हिन्दी अस्माओ अफ़आल (संज्ञा और क्रियापद) जिनको हम रात-दिन, चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते इस्तेमाल करते हैं, मुब्तज़ल और बाज़ारी हो सकते हैं? क्या हमारे उलमा (विद्वान्) खवासो अशराफ (विशिष्ट और कुलीन सज्जन) इन अस्माओ

अफ़आलको बेतकल्लुफ़ (निःसंकोच, अनायास) अपनी ज़बानोंपर नहीं लाते? फिर यह क्या है कि जो अलफ़ाज़ अदनाओ आला, आमोख़ास जाहिलो आलिम सबकी ज़बानोंपर हैं, वह हर क़िस्मकी गुफ़्तगू और ख़तो किताबतके वक़्त तो मुब्तज़ल और बाज़ारी नहीं होते, मगर इल्मी इस्त-लाहात बनाते वक़्त उनको मुब्तज़ल और बाज़ारी कहा जाता है! क्या उर्दू जबानमें सब ज़बानोंसे ज्यादा कसीर तादाद (बहुसंख्यक) हिन्दीके[1] अलफ़ाज़ नहीं हैं? क्या हिन्दीके खास हरूफ (ख, ढ़, भ आदि) हम बेत-कल्लुफ़ (अनायास) अदा नहीं करते? क्या हम ऐसे अलफ़ाज़, जिसमें यह हरूफ हों, अपनी ज़बानसे छीलकर दूर कर सकते हैं? क्या इन हरूफ़के बोलनेसे हम हमेशाके लिये तोबा कर सकते हैं? अगर नहीं, तो क्या फिर मौक़ेपर इन अलफ़ाज़ और इन हरूफ़को इस्तेमाल करना और हर फ़सीहसे फ़सीह तक़रीर और तहरीरमें इनको दख़ल देना और एक ख़ास मौक़ेपर,

---

१. सैयद अहमद देहलवीके मशहूर उर्दू लुग़ात (कोष) "फ़रहंग आसफ़िया" में शब्दोंकी संख्या ५४००९ बतायी गयी है, जिसका ब्योरा इस भाँति दिया है:—

हिन्दी जिसके साथ पञ्जाबी और पूर्वी जबानके बाज़ ख़ास अलफ़ाज भी शामिल हैं	२१६४४
उर्दू यानी वह अलफ़ाज़ जो ग़ैर ज़बानोंसे हिन्दीके साथ मिलकर बने हैं	१७५०४
अरबी	७५८५
फ़ारसी	६०४१
संस्कृत	५५४
अंगरेजी	५००
मुख्तलिफ (विविध)	१८१
	५४००९

यानी वज़्अ इस्तलाहातके वक़्त, उन अलफ़ाज़ व हरूफ़को उनके शानदार दर्जेसे गिरा देना और मुब्तज़ल व बाज़ारीकी फ़बती उनपर चस्पाँ करना सरासर मुहमिल (असम्बद्ध) और बेमानी नहीं है ?

"आख़िर हिन्दी अलफ़ाज़को सख़ीफ़ (बेहूदा) और मुब्तज़ल समझने-की वजह क्या है ? इसकी वजह साफ़ ज़ाहिर है। जो क़ौम अपने दर्जेसे गिर जाती है, वह हुर्रियत (स्वतन्त्रता) का ताज सिरसे उतारकर गुलामीका तौक़ पहन लेती है, वह अपनी हर चीज़को पस्तो ज़लील समझने लगती है। अपना मज़हब दूसरोंके मज़हबोंके मुक़ाबिलेमें, उन्हें अदना और कमज़ोर नज़र आता है। ग़ैरोंके इख़लाक़ और आदावोरसूम (चरित्र और आचार-व्यवहार) अपने इख़लाक़ और आदावोरसूमसे अच्छे दिखायी देते हैं। इसी तरह अपनी ज़बान भी उन्हें ग़ैरोंकी ज़बानोंकी निस्वत नाशाइस्ता (अशिष्ट) और कममाया (दरिद्र) मालूम होती हैं। ग़ैर ज़बानोंके अलफ़ाज़

मुख़्तलिफके अन्तर्गत ये भाषाएँ और इनके शब्द गिनाये गये हैं :

तुर्की	...	...	१०५
इब्रानी (Hebrew)	...	११	
सुरयानी	...	७	१८
यूनानी (Greek)	...	...	२९
पुर्तगाली (Portuguese)	...	...	१६
लातीनी (Latin)	...	...	४
फ़रासीसी (French)	...	...	३
पाली	...	...	२
बर्मी	...	...	२
मलाबारी	...	...	१
हस्पानवी (Spanish)	...	...	१
		कुल	**१८१**

उनकी नज़रमें निहायत शानदार और अरफ़ा (उच्चतम) हो जाते हैं और अपनी ज़बानके अलफ़ाज़ हक़ीर (तुच्छ) और मुब्तज़ल मालूम होते हैं। यह मैलान (झुकाव) गिरी हुई क़ौमके तमाम मामलात व हालातपर यकसाँ तौरसे हावी हो जाता है।

"हमको इस धोकेसे बचना चाहिये और हिन्दी ज़बानके अलफ़ाज़ व हरूफ़से, जो हमारी ज़बानकी फितरतमें (पैदाइशमें) दाखिल हैं, नाक-भौं चढ़ानी नहीं चाहिये। हम जिस तरह अरबी और फ़ारसीसे इस्तला-हात लेते हैं, इसी तरह हिन्दीसे भी बेतकल्लुफ़ वज़ै इस्तलाहातसे काम लेना चाहिये और हिन्दी अलफ़ाज़ को, जो हमारी ज़बानके मानूसो महबूब (परि-चित और प्रिय) अलफ़ाज हैं, बाज़ारी और मुब्तज़ल कहकर दुनियाकी नज़रमें अपने तईं गैर-मोहज़्ज़ब (असभ्य) और तनज़्ज़ुलयाफ्ता (पतित) साबित नहीं करना चाहिये। इस उसूलसे (सिद्धान्तसे) सिर्फ़ उस सूरतमें हटना चाहिये जब कि हिन्दीके अख्तियारकरदा (अंगीकृत) मुफ़रद (अधूरे) अलफ़ाज़से मुरक्कब (दूसरे शब्दोंसे बने) इस्तलाहात तैयार करनेमें कोई दुशवारी पेश आये।"[१]

इन अवतरणोंसे सिद्ध हो गया कि किन कारणोंसे हिन्दी उर्दूमें भेद पड़ा और क्यों वह भेद दूर नहीं होता। अब हम यह बता कर इस प्रसङ्गको समाप्त करना चाहते हैं कि हिन्दी-उर्दूकी खाई पाटनेका जो यत्न उर्दूके दो-एक विद्वान् और साहित्यिक करते भी हैं, उसमें अन्य विद्वानोंका सहयोग उन्हें नहीं प्राप्त होता, इसलिये उनका यह उद्योग अरण्यरोदनसा होता है। ऊपर दूसरे सिलसिलेमें मौलाना अब्दुल हक़ साहबकी यह राय उद्धृत की जा चुकी है कि इस ज़मानेमें मौलवी हाली एक ऐसे शाइर हुए हैं जिन्होंने उर्दूमें हिन्दीकी चाशनी देकर कलाममें शीरीनी पैदा कर दी है, मगर हम-असर शोअरामें इसकी कुछ क़दर न हुई। यही नहीं, स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—"उर्दूके धनी तो मौलाना हालीको भी (जिनकी सारी उम्र

---

१. वज़ै इस्तलाहात पृ० १७५–७७।

देहलीमें रहते बीती और ग़ालिब और शेफ़्ता जैसे बाकमाल बुजुर्गोंके सत्सङ्ग और सोसाइटीमें रहनेका जिन्हें निरन्तर सौभाग्य प्राप्त हुआ था और स्वयं एक आदर्श और उच्चकोटिके क्रान्तिकारी कवि थे, सिर्फ़ इस क़सूरके कारण कि उनका जन्म दिल्लीमें न होकर पानीपतमें हुआ था (यानी वह दिल्लीके रोड़े न थे) उर्दू-ए-मुअल्लाका मालिक या फ़सीह और टकसाली उर्दू लिखनेवाला नहीं मानते थे।"[1] हालीने "दिल्ली की शाइ-रीका तनज़्ज़ुल" शीर्षक कवितामें इसी दुर्घटनाका उल्लेख भी किया है।

कोई सौ साल पहले मीर वली मुहम्मद नजीरने बहुतसी ऐसी कविता लिखी थी, जो हिन्दी और उर्दू दोनोकी कही जा सकती है। परन्तु इसकी पूछ उर्दूके शाइरोंमें न हुई। मौ० हाली और नज़ीर दोनोका एक पाप तो यह था कि वे दिल्लीमें नहीं पैदा हुए थे और दूसरा यह था कि उनकी ज़बानमें हिन्दीके अलफ़ाज़ भी होते थे, यद्यपि यह किसीने स्वीकार नहीं किया है, तथापि मौ० हालीने नज़ीरकी चर्चामें गुप्त रूपसे यह बात कह डाली है। अपने मशहूर मुक़द्दमेमें मीर अनीसके बारेमें लिखते हुए उन्होंने कहा है :—

"आजकल यूरोपमें शाइरोंके कमालका अन्दाज़ा इस बातसे भी किया जाता है कि उसने और शोअरासे किस क़दर ज्यादा अलफ़ाज खुशसलीक़गी (सुचातुरी) और शाइस्तगीसे (औचित्यसे) इस्तेमाल किये हैं। अगर हम भी इसीको मीयारे कमाल (योग्यताका आदर्श) क़रार दें तो भी मीर अनीसको उर्दू शोअरामें सबसे बरतर (श्रेष्ठतम) मानना पड़ेगा। अगर्चे नज़ीर अकबराबादीने शायद मीर अनीससे भी ज़ियादा अलफ़ाज इस्तेमाल किये हैं, मगर उसकी ज़बानको अहले ज़बान कम मानते हैं, बखि-लाफ़ मीर अनीसके उसके हर लफ्ज़ और मुहावरेके आगे सबको सर झुकाना पड़ता है।" [पृ० १८२]

---

१. हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी पृ० १०का नोट।

इसमें नज़ीरका क्या कसूर? इसे उर्दू शोअराके तअस्सुबके सिवा क्या कहा जा सकता है?

नज़ीरका देहान्त सन् १८३२ में आगरेमें हुआ था। वे नजीर अकबराबादी प्रसिद्ध थे। आगरेका ताजगञ्ज मुहल्ला उस समय अकबराबाद कहलाता था, क्योंकि अकबरने बसाया था, और वहीं अकबरकी राजधानी थी। यदि आज उर्दू कविताका ढङ्ग वही होता, जो नज़ीरकी कविताका था, तो उर्दू हिन्दीके भेदका रोना या तो होता ही नहीं, यदि होता तो कम होता। परन्तु जिसने इस ढङ्गकी कविता की, वह नजस (अपवित्र) समझा गया और सुकवियोंकी श्रेणीसे बहिष्कृत हुआ। परन्तु नजीर स्वतंत्र कवि थे; उन्होंने कभी इसकी परवा नहीं की। उनके श्रीकृष्णलीलाके फारसी छन्दमें कहे हुए पद रसखानके पदोंसे कुछ कम महत्वके नहीं हैं। उदाहरण स्वरूप ये पंक्तियाँ पढ़िये :—

यारो सुनो य दधिके लुटैयाक बालपन।
औ मधुपुरी नगरके बसैयाक बालपन।।

मोहन सरूप नृत्य करैयाक बालपन।
बन-बनमें ग्वाल गौएँ चरैयाक बालपन।।

ऐसा था बाँसुरीके बजैयाक बालपन।
क्या-क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैयाक बालपन।।

पर्देमें बालपनके ये उनके मिलाप थे।
जोतीसरूप कहिये उन्हें सो वो आप थे।।

मृत्यु जैसे कठिन विषयोंको सरल करके समझानेमें उन्हें कमाल हासिल था। मृत्यु क्या है, इसपर कहते हैं :—

जो मरना मरना कहते हैं, वह मरना क्या बतलाय कोई।
वाँ जो हर बाह खोल मिले, सब अपनी अपनी छोड़ दुई।।

सी डाली आँख दुरङ्गी की जब एक रङ्गीने मार सुई।
नै मर्दोंका गुलशोर रहा नै औरतकी कुछ आह हुई।।

माटीकी माटी आग अगिन, जलनीर पवनकी पवन हुई।
अब किससे पूछिये कौन मुआ, और किससे कहिये कौन मुई।।

याँ इक तरफ तो दूल्हा था, और एक तरफको दुल्हन थी।
जब दोनो मिलकर एक हुए, फिर बात रही क्या पर्देकी।।

नैं राजाका सन्देह रहा, नै भेद रहा कुछ रानीमें।
जब घेरे मिल गये घेरोंमें, और पानी मिल गया पानीमें।।

याँ जिनको जीना मरना है, ऐ यार उन्हींको डरना है।
जब दोनो दुखसुख दूर हुए, फिर जीना है ना मरना है।।

नज़ीरका भाषापर असाधारण प्रभुत्व था। उनकी शैली बड़ी ही सुन्दर और मनमोहिनी थी, जिससे उनके शब्दोंका पाठकोंपर बड़ा प्रभाव पड़ता था। वे लौकिक और पारलौकिक सभी विषयों पर अपना मत स्पष्ट रूपसे सरल भाषामें प्रकट कटते थे, जैसा इन आवतरणोंसे जाना जायगा :—

जोगीनामा

कोई कहता है जोगी जी किधरको आये।
सच कहो कौनसी नगरीमें तुम्हारा है वतन।।

तुम तो आते हो नज़र हमको नयेसे जोगी।
सच कहो जोग लिया तुमने य किसके कारन।।

गर गुरु हुक्म हो बनवा दें तुम्हारा अस्थल।
शहरमें बागमें या बरलबे दरियाए जमन।।

या कि मथुरा जो पसन्द आये तो वाँ जगह ले।
या खदिरबनमें महाबनमें हो या बन्दाबन।।

जब तो सुन सुनके कहा मैंने य उससे बाबा।
तुमको क्या काम फकीरोंसे य करना अनबन॥
और वतन पूछ हमारा तो य सुन बाबा।
या गली दोस्तकी या यारके घरका आँगन॥

आदमीनामा

मसजिद भी आदमीने बनायी है याँ मियाँ।
बनते हैं आदमी ही इमाम और खुतबख्वाँ[१]॥
पढ़ते हैं आदमी ही क़ुरान और नमाज़ याँ।
और आदमी ही उनकी चुराते ह जूतियाँ॥
जो उनको ताड़ता है सो है वह भी आदमी॥

बुढ़ापेनामा

क्या कहर[२] है यारो जिसे आ जाय बुढ़ापा।
और ऐश जवानीके तईं आय बुढ़ापा॥
इशरत[३] को मिला ख़ाक़में ग़म लाय बुढ़ापा।
हर कामको हर बातको तरसाय बुढ़ापा॥
सब चीजको होता है बुरा हाय बुढ़ापा।
आशिक़को तो अल्लाह न दिखलाय बुढ़ापा॥

बञ्जारानामा

टुक हिर्सो[४] हवाको छोड़ मियाँ मत देश विदेश फिरै मारा।
कज्जाक[५] अजल[६] का लूटे है दिनरात बजाकर नक़्क़ारा॥

---

१. जुमेके रोज और विशेष अवसरोंपर बादशाहोंके लिये मसजिदों-में जो नमाज़ पढ़ी जाती है, वह खुतबा कहाती है और उसे पढ़नेवाला खुत्वाख्वां कहा जाता है। २. जोर-जबरदस्ती। ३. खुशदिली। ४. लालच। ५. डाकू। ६. मौतका वक्त।

क्या बधिया भैंसा बैल शुतुर क्या गोनें पल्ला सिर भारा।
क्या गेहूँ चावल मोठ मटर क्या आग धुआँ और अङ्गारा।।
सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

× × ×

जब चलते चलते रस्तेमें ये गौन तेरी ढल जावेगी।
इक बधिया तेरी मिट्टीपर फिर घास न चरने पावेगी।।
ये खेप जो तूने लादी है सब हिस्सोंमें बट जावेगी।
धी पूत जँवाई बेटा क्या बञ्जारिन पास न आवेगी।।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

× × ×

जब मर्ग[1] फिराकर चाबुकको ये बैल बदनका हाँकेगा।
कोइ लाज समेटेगा तेरा कोई गौन सिये और टाँकेगा।।
हो ढेर अकेला जङ्गलमें तू खाक लहद[2] की फांकेगा।
इस जङ्गलमें फिर आह "नजीर" इक भुनगा आन न झांकेगा।।
सब ठाठ पड़ा रह जावेगा जब लाद चलेगा बञ्जारा।।

× × ×

फ़क़ीरोंकी सदा

बटमार अजलका आ पहुँचा टुक इसको देख डरो बाबा।
अब अश्क[3] बहाओ आँखोंसे और आहें सर्द भरो बाबा।।
दिल हाथ उठा इस जीनेसे बेबस मनमार मरो बाबा।
जब बापकी खातिर रोते थे अब अपनी खातिर रो बाबा।।

---

१. मौत २. गढ़ा जिसमें लाश धोयी-नहलायी जाती है। ३. आँसू।

तन सूखा कुबड़ी पीठ हुई घोड़पै ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलनेकी फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

सर काँपा चाँदी बाल हुए मुँह फैला पलकें आन झुकीं।
क़द टेढ़ा कान हुए बहरे और आँखें भी चुँधियाय गयीं।।
सुख नींद गयी और भूख घटी दिल सुस्त हुआ आवाज़ नहीं।
जो होनी थी सो हो गुज़री अब चलनेमें कुछ देर नहीं।।
तन सूखा कबड़ी पीठ हुई घोड़ेपर ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलनेकी फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

घरबार रुपये और पैसेमें मत दिलको तुम खुरसन्द[1] करो।
या ग़ोर बनाओ जङ्गलमें या जमनापर आनन्द करो।।
मौत आन लताड़ेगी आख़िर कुछ मकर करो कुछ फन्द करो।
बस ख़ूब तमाशा देख चुके अब आँखें अपनी बन्द करो।।
तन सूखा, कुबड़ी पीठ हुई, घोड़ेपर ज़ीन धरो बाबा।
अब मौत नक़ारा बाज चुका चलनेकी फ़िक्र करो बाबा।।

× × ×

कलयुग

दुनिया अजब बाज़ार है कुछ जिन्स याँकी सात ले।
नेकीका बदला नेक है बदसे बदीकी बात ले।।
मेवा खिला मेवा मिले फल फूल दे फल पात ले।
आराम दे आराम ले दुख-दर्द दे आफात[2] ले।।

---

१. खुश। २. आफतें।

कलयुग नहीं करजुग है ये याँ दिन को दे और रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

काँटा किसीके मत लगा गर मिस्ले-गुल फूला है तू।
वह तेरे हक़में ज़हर है किस बातपर फूला है तू।।
मत आगमें डाल औरको फिर घासका पूला है तू।
सुन रख यह नुकता बेख़बर किस बातपर फूला है तू।।
कलयुग नहीं, करजुग है ये याँ दिनको दे और रात ले।
क्या खूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

शोखी शरारत मक्र फन सबका बिसेखा है यहाँ।
जो जो दिखाया औरको वो आप देखा है यहाँ।।
खोटी खरी जो कुछ कि है तिसका परेखा है यहाँ।
जौ जौ पड़ा तुलता है दिल तिल तिलका लेखा है यहाँ।।
कलजुग नहीं करजुग है ये याँ दिनको दे और रात ले।
क्या ख़ूब सौदा नक़्द है इस हाथ दे उस हाथ ले।।

× × ×

बाँसरी

मोहनकी बाँसरीके मैं क्या क्या कहूँ जतन।
लय इसकी मनकी मोहनी धुन इसकी चित हरन।।
इस बाँसरीका आनके जिसका हुआ बचन।
क्या जल-पवन "नजीर" पखेरू व क्या हिरन।।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजायी किशन कन्हैयाने बाँसरी।।

जब मुरलीधरने मुरलीको अपनी अधर धरी।
क्या-क्या परेम मीत भरी इसमें धुन भरी।।
लय इसमें राधे राधेकी हरदम भरी खरी।
लहराई धुन जो उसकी इधर और उधर जरी।।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी।
ऐसी बजायी किशन कन्हैयाने बाँसरी।।
जिस आन कान्हजीको वो बन्सी बजावनी।
जिस कानमें वो आवनी वाँ सुध भुलावनी।।
हर मनकी होके मोहनी और चित लुभावनी।
निकली जहाँ धुन उसकी वह मीठी लुभावनी।।
सब सुननेवाले कह उठे जै जै हरी हरी
ऐसी बजायी किशन कन्हैयाने बाँसरी।।

हिन्दीपर फ़ारसीका क्या प्रभाव पड़ा ?

फारसीका हिन्दीपर जो सबसे बड़ा प्रभाव पड़ा और जिससे एक नयी भाषा दो संस्कृतियों और दो भाषाओंके मेलसे बन गयी, उसकी चर्चा हो चुकी। यहाँ अब यह देखना है कि हिन्दीके नागरी रूपपर फ़ारसीका प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष अर्थात् उर्दूके द्वारा क्या प्रभाव पड़ा। किसी भाषा पर अन्य भाषाका प्रभाव दो प्रकारसे पड़ता है। एक तो जब भाषाएँ परस्पर के संसर्गमें आती हैं, तब एकके शब्द दूसरीमें कभी भाव समझाने, कभी अनुकरण या नकल करने और कभी मेल बढ़ानेके लिये प्रयुक्त किये जाते हैं, और दूसरे जब किसी भाषाका राजनीतिक दृष्टिसे प्राधान्य होता है, तब उस भाषाके बोलनेवालोंकी रीति-नीति, चाल-ढाल, पहनावे आदिका अनुकरण अधीन जाति करने लगती है, जिससे उसकी संस्कृतिके अनेक शब्द पराधीनोंकी भाषामें आ जाते हैं। तुर्की भाषाका बाजार शब्द संसार-व्यापी हो रहा है। उसका प्रयोग हिन्दीमें जैसे होता है, वैसे ही अङ्गरेजीमें भी होता है, यद्यपि हमारे यहाँ हाट और अङ्गरेजीमें मार्केट शब्द उसके लिये हैं। परन्तु फारसीका दुकान या दूकान शब्द जो हिन्दीमें चल रहा है, उसके बदलेका हिन्दी शब्द नहीं है। संस्कृतमें विपणि वा आपण और पंजाबी में हट्टी कहते हैं। जो शब्द हिन्दीमें था, उसे दूकानने मैदानसे भगा दिया। पोर्तुगीज लोगोंका शासन और उधम बम्बईपर कुछ समयतक रहा, पर इतने ही अल्प समयमें चाबी, फालतू, गिरजा, आलू, पाउ (रोटी) जैसे अनेक शब्द बम्बईकी भाषाओंको ही नहीं, हिन्दीको भी वे दे गये। अङ्गरेज भी डेढ़ सौ वर्षसे इस देशपर राज्य कर रहे थे। इनके भी बहुतसे शब्द जब हमने ले लिये, तब मुसलमानोंका राज तो यहाँ सैकड़ों साल रहा। उनकी भाषाओंके शब्द यदि हमने ले लिये और उनके आचार-व्यवहारकी बात सीखी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

अब देखना चाहिये कि हिन्दीने फारसीसे क्या लिया। जो भाषा जितनी ही अधिक दूसरी भाषाके संसर्गमें रहती है, वह उतने ही अधिक उससे शब्द आदि लेती है। इस कारण हिन्दीने फारसीसे वस्त्रालंकारों, भोज्यपदार्थों तथा नित्यके व्यवहारमें आनेवाली हजारों वस्तुओंके नाम लिये तथा ऐसी वहुतसी चीजोंके नाम भी लिये, जिन्हें या तो हम जानते ही न थे और यदि जानते थे, तो उन नामोंको छोड़ नये नामोंका व्यवहार करने लगे। ये शब्द या तो फारसीने अपने पाससे हमें दिये या अरब और तुर्किस्तानसे लाकर। अदालती शब्द तो सभी अरबीके हैं और अदालत आप अरबीका शब्द है, यद्यपि हम लोग आज-कल इसके लिये न्यायालय, विचारालय, कोर्ट आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं। धर्माधिकरण, विनिश्चयालय जैसे शब्दोंका प्रयोग न होता है और न इसके समझनेवाले ही अधिक हैं। मुद्दई-मुद्दाअलेह अरबीके शब्द हैं। इनके बदले वादी प्रतिवादी का व्यवहार कहीं कहीं होता है, परन्तु संस्कृतके टकसाली शब्दों—अर्थी प्रत्यर्थीको लोग नहीं जानते। चन्दा, जिसका पर्यायवाचक "बरार" शब्द है और उसी अर्थमें प्रयुक्त भी होता है, फारसीका समझा जाता है, परन्तु वह पालीके छन्दक और संस्कृतके छन्दस्यसे वना है।

अब देखिये, हमने कैसे-कैसे शब्द फारसीसे लिये। वस्त्रोंमें जामा और नीमा, बग़लबन्दी और मिर्ज़ई। जामा अङ्गरखेसे ज्यादा लम्बा होता था, जिसके पहननेसे सिर और पैरको छोड़ सारा बदन ढक जाता था। इसका घेर बहुत अधिक होता था और बनानेमें एक थान लगता था। शाही दरवारमें हिन्दू मुसलमान दोनो जामा पहनकर जाते थे। पीछे ब्याह-शादीमें नौशे या दूल्हेको जामा पहनानेका रिवाज चल गया और उसके घरवाले बाप-दादे भी जामा पहन-पहनकर बरातोंमें जाने लगे। अब बरातियोंका जामा तो नहीं रहा, पर दूल्हेका बाकी है। वह भी अगले दस सालमें हवा हो जायगा और उसकी जगह कोट बैठ जायगी। जामेके नीचे जो कपड़ा underwear पहना जाता था, उसे

नीमा[1] कहते थे। नीमा तो अब बिलकुल उठ हो गया है। बगलबन्दी जिसमें बगलोंके नीचे बन्द या तनियाँ लगती हैं, जामेका और इसी तरह मिर्ज़ई अङ्गरखेका संक्षिप्त संस्करण है। ये दोनो कमरसे नीचे नहीं रहतीं। मिर्ज़ई "मिर्ज़ाकी" अर्थमें जान पड़ता है। मीरज़ा या मिर्ज़ा तुर्कोंका खिताब या पदवी है। सम्भव है तुर्क सिपाही जामेकी जगह मिर्ज़ई पहनते हों और वह हिन्दुओंमें भी चल गयी हो। वस्त्र सम्बन्धी और नाम हैं—लबादा, कबा, चोग़ा, आस्तीन, गरेबान, पायजामा, इज़ारबन्द, अम्मामा, रूमाल, शाल, दोशाला, बुर्क़ा, तकिया, गावतकिया इत्यादि। अलंकारों वा गहनोंमें गुलूबन्द, हिमायल (हमेल), बाज़ूबन्द, ज़ंजीर और पायज़ेब आदि तथा मेवे मिठाइयोंमें किशमिश, पिस्ता, बादाम, मुनक़्क़ा, शहतूत, बेदाना, खूबानी, अञ्जीर, सेब, बिही, अनार, जलेबी, बालूशाही, हलवा इत्यादि हैं। इनके सिवा सैकड़ों और शब्द ऐसे चल रहे हैं मानो हिन्दीके ही रूप हों। दस्तरख्वान, चपाती, पुलाव, शुरवा (शोरबा), ज़र्दा, क़लिया, कूर्मा, हरीरा (हरेरा), कबाब, अचार, मुरब्बा, गुलाब, बेदमुश्क, तबक़, रकाबी, तश्तरी, चमचा, आबखोरा (अमखोरा), किश्ती, हम्माम, कीसा (खीसा), साबुन, शीशी, कहगिल (काहगिल), शीशा, शमादान, फ़ानूस, तँवर (तन्नूर, तन्दूर), मुश्क, नमाज़, रोज़ा, ईद, शबेबरात (शबरात), क़ाज़ी, हुक़्क़ा, नेचा, चिलम, बन्दूक़, तख्ता, नर्द, गंजीफ़ा, हावनदस्ता (इमामदस्ता), आफ़ताबा, फ़तीलसोज (पीतलसोज), खोरा, खोरवा इत्यादि।

इस समय हिन्दीमें ऐसे अनेक अरबी, फारसी और तुर्की शब्द चल रहे हैं, जिनके बदले हिन्दी शब्द चलाना चाहें तो कठिनतासे ढूँढ़े मिलें। जैसे दलाल (दल्लाल), फ़र्राश, मजूर (मज़दूर), वकील, बजाज़, (बज्जाज़), जल्लाद, सराफ (सर्राफ), मसखरा, नसीहत, लिहाफ़, तोशक, चादर,

---

१. नीमा शब्द निम्न वा नीचेके वस्त्रके अर्थमें बौद्धोंमें प्रयुक्त होता है और इससे पालीसे सिद्ध हो सकता है। पर फारसीसे नहीं आया है, यह नहीं कह सकते।

सूरत, शकल, चेहरा, तबियत, मिज़ाज, बर्फ़, कबूतर, बुलबुल, पर, दावात, स्याही, जुलाब, क़्क़ा, ऐनक, चश्मा, सन्दूक़, कुर्सी, तख़्त, लगाम, ज़ीन, तङ्ग, रकाब, पायन्दाज़, नाल, कोतल, वफ़ा, जहाज़, मस्तूल, तहमत, दर्रा, पर्दा, दालान, तहख़ाना, तनख़ाह, मल्लाह, ताज़ा, ग़लत, सही, रसद, रसीद, कारीगर इत्यादि। शतरंज भारतीय आविष्कार है, पर अरब और फ़ारसकी जबसे सैर कर आयी है, तबसे विदेशी रङ्गढङ्गमें माती है। बादशाह, वजीर (फर्जी) रुख, फील इत्यादि नामोंमें एक भी हिन्दी वा संस्कृतका शब्द नहीं है।

हिन्दीने फारसीसे संज्ञा शब्द इतने लिये कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। परन्तु इतना किया कि इनके बहुवचन अपने ढङ्गसे बनाये और विभक्ति प्रत्यय अपने लगाये। "आदमी", "दरख्त", "मेवा", जैसे शब्द लेकर इनमें "ओं" जोड़कर पहले सामान्य रूप बनाया और फिर अपने विभक्ति प्रत्यय लगाकर इनका प्रयोग किया।

हिन्दी व्याकरणपर फारसीका जो प्रभाव पड़ा वह (१) शब्दोंकी हिज्जे या वर्णन, (२) वचन, (३) लिंग, (४) अव्यय, (५) संज्ञा, (६) विशेषण, (७) क्रिया और (८) वाक्यरचनामें देखा जाता है।

(१) हिन्दीमें वर्तमानकालिक क्रियापद पहले आवइ, कहइ, सुनइ, चलइ आदि लिखे जाते थे। तुलसीकृत रामायणमें इन्हीं रूपोंमें देखे भी जाते हैं, परन्तु कालान्तरमें सन्धिके नियमानुसार आवै, कहै, सुनै, चलै रूप बने और ये ही प्रचलित हो गये। फारसी अक्षरोंमें "ए" और "ऐ"के लिखनेमें कोई भेद नहीं हो सकता और उच्चारण करना तो उच्चारण करनेवालेके अधीन है, चाहे आवै कहे या आवे, सुनै कहे या सुने। परन्तु दोनोंके अर्थोंमें जो सूक्ष्म भेद है, वह भी दो भिन्न-भिन्न रूप रखनेमें सहायक नहीं हुआ और उर्दूके अनुकरणने हिन्दीमें भी दोनो अर्थोंमें एक ही रूप कर दिया। इसी प्रकार भविष्यकालिक क्रियापदों "हूँगा" और "होऊंगा" के अर्थोंमें जो अन्तर है, उसके रहते हुए भी हम उर्दूकी देखादेखी "हूँगा" ही लिखते हैं और दोनोंका भेद भूल गये हैं।

(२) बहुवचनके लिये एकवचनका प्रयोग उर्दूमें होता है। पहले तो उर्दू शाइर भी "वह"को वाहिद (एकवचन)और "वे" को जमा (बहुवचन)मानते थे और इनमें भेद किया करते थे, जैसे इस शेरमें किया है :—

फिरते थे दश्त दश्त दिवाने किधर गये।
वे आशिक़ीके हाय ज़माने किधर गये।।

बादको बहुवचनमें भी "वह" ही लिखने लग गये।

अँगूठी लालकी करती क़यामत आज गर होती।
जिन्होंकी आन पहुँची लड़ मुए वह एक छल्लेपर।।
अब्रुए यारका है सिरमें जिन्होंके सौदा।
रक़्स वह लोग किया करते हैं, तलवारोंपर।।

अब कई हिन्दी-लेखक भी बहुवचनमें भी "यह" और "वह" ही लिखते हैं।

(३) लिंग-विचारकी दृष्टिसे भी फ़ारसीका हिन्दीपर प्रभाव पड़ा है। चर्चा, गोशाला, पाठशाला, माला, साया, घन्टा, आत्मा, अग्नि, पवन, जलवायु इत्यादिके लिंग बदल गये। चर्चा संस्कृत शब्द और स्त्रीलिंग है। इसी प्रकार गोशाला, पाठशाला, माला, घन्टा शब्द स्त्रीलिंग हैं। परन्तु हिन्दीमें बहुधा पुंलिङ्गमें प्रयुक्त होते हैं। आत्मा संस्कृत आत्मन् शब्दकी प्रथमाके एकवचनका रूप है, परन्तु रूह अरबी शब्द इसीका अर्थ-द्योतक स्त्रीलिंगमें है, इसीलिये शायद यह भी स्त्रीलिंग बन गया। शेष शब्दोंके विषयमें भी यही बात कही जा सकती है।

इस देशकी स्त्रियाँ जब एकवचनका प्रयोग अपने लिये करती हैं, तब तो कहती हैं 'मैं आती हूँ", या "आती हूँ" परन्तु जब बहुवचनका करती हैं, तब कहती हैं "हम आते ह" या "आते हैं।" इस ओर जब हमने कानपुरके सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक "ज़माना"के सम्पादक अपने मित्र स्व० मुन्शी दयानारायणजी निगम बी० ए० का ध्यान आकर्षित कर कारण पूछा तो उन्होंने

लिखा कि यह प्रयोग लखनऊका खास है। इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा कि स्त्रियोंकी भाषाके अलावा भी लखनऊवालोंमें यह मार्केकी बात है कि एकवचनमें शब्दका प्रयोग करेंगे तो उसमें स्त्रीलिंग क्रियापद देंगे और बहुवचनके प्रयोगमें पुंलिंग क्रियापदका व्यवहार करेंगे। जैसे, वे लिखेंगे "इसकी क्या वजह है ?" पर जब इसी शब्दका बहुवचनमें प्रयोग करेंगे, तब लिखेंगे "इसके क्या वजूह हैं ?" "वजह" शब्दका बहुवचन फ़ारसीमें "वजूह" है। और भी, वे लिखेंगे "बड़ी शर्त यह है" परन्तु जब बहुवचनमें लिखेंगे, तब कहेंगे "बड़े शरायत यह हैं।" मुन्शीजीका कहना है कि दिल्लीवाले इसका अनुकरण नहीं करते।

(४) हिन्दी संश्लेषणात्मक भाषा और फ़ारसी विश्लेषणात्मक भाषा है। इसलिये हिन्दीमें विभक्तिप्रत्यय शब्दके पीछे लगते हैं और फ़ारसीमें शब्दके आगे। आगे लगनेवालोंको उपसर्ग ही कहना चाहिये। हिन्दीमें जहाँ "हुक्मसे" "असलमें" "बदलेमें" या "जगहमें" लिखते हैं वहाँ उर्दू फ़ारसीवाले बहुक्म, दरअसल, बजाय लिखते हैं। अब हिन्दीमें भी ये पद बेरोकटोक लिखे जाते हैं। फ़ारसीका सम्बन्धका चिन्ह "ए" कस्त्र' कहाता है। इसने हिन्दीको विश्लेषणात्मक भाषाका रूप देनेमें कुछ उठा नहीं रखा और "नेपाल-महाराज", "केसरी-सम्पादक", जैसे समस्त पदोंके बदले हिन्दीमें "महाराज नेपाल", "सम्पादक केसरी" जैसे प्रयोग बेरोक-टोक होने लगे। फ़ारसीके संबंधवाचक चिन्ह "ए" का भी लोप हो गया। "कमसे कम" के लिये तो फ़ारसी न जाननेवाले हिन्दीदाँ भी "कम अज़ कम" बोलते हैं। अव्यय भी हमने यथेष्ट संख्यामें लिये हैं। देखिये :—

क्रियाविशेषणोंमें—जल्द, बिल्कुल, यानी, बेशक, अलबत्ता, ज़रूर-ज़रूर हर्गिज़, क़रीब-क़रीब, वग़ैरह, फ़ौरन, मसलन, बग़ैर ख़ुदबख़ुद, ख़ाहमख़ाह, शायद, ख़ैर, राज़ीख़ुशी, वाक़ई।

सम्बन्धवाचक अव्ययोंमें क़रीब, बदले, लायक़, मानिन्द, बाबत, बदौलत, वास्ते, तरफ़, बाद, बिला।

समुच्चयबोधक अव्ययोंमें सिवा, सिवाय, अलावा, मगर, लेकिन, या, वर्ना, बावजूद, बशर्ते कि, अगर, अगर्चे, चूँकि, चुनांचे, बल्कि, ताकि, गोया, कि, व।

विस्मयायादिबोधक अव्ययोंमें शाबाश, (शादबाश)

(५) हिन्दीमें फ़ारसी या इसके द्वारा अरबी आदिसे संज्ञा शब्द असख्य आये और इनका केवल संज्ञा रूपसे ही व्यवहार नहीं हुआ, बल्कि "होना" "करना" आदि क्रियाएँ लगाकर क्रियापदोंकी भाँति ये काममें लाये गये। बात इतनी बनी रही कि शब्द लिये गये, पर व्याकरण हिन्दीका ही रहा। फ़ारसी और अरबीके अनुकरणपर हिन्दीमें भी शब्द बनाये गये, जैसे शतरंजबाज़के ढंगपर हिन्दीमें पतंगबाज़, चौपड़बाज़ आदि तथा वफ़ादारके तर्जपर थानादार, रसोईदार, समझदार जैसे शब्द चले। क़लमदानके ढंगपर खासदान, पानदान और पीकदान बने। कटोरदान बना तो इसी ढंगसे, पर अर्थमें भिन्न है। क़ुतुबखाना, मयखाना, दीवानख़ाना जैसे शब्दोंके अनुकरणपर जेलखाना, पागलखाना, मोदीखाना, पैखाना जैसे शब्दोंकी सृष्टि हुई। बाग़वान, दरबान जैसे शब्दोंकी नक़लपर हाथीवान, बहलवान, गाड़ीवान जैसे शब्द हिन्दीमें चलने लगे। ऐसे ही आईनानुसार, असरकारक, ज़िलाधीश आदि शब्द भी हैं।

हिन्दीने फ़ारसीसे कहावतें भी लीं और कई महावरों और कहावतोंका तर्जुमा भी कर लिया। कहीं कहीं तो ये इस ढंगसे हमारी भाषाके अंग हो रही ह, जैसे "गुल खिलता है"का अर्थ स्पष्ट है "फूल खिलता है"; परन्तु जब हम कहते हैं कि "फूल खिलता है" तो इससे रहस्यके उद्घाटनका भाव व्यक्त नहीं होता। इसलिये "गुल खिलना" हमारी भाषासे निकल नहीं सकता। इसी तरह है "बिस्मिल्ला ही ग़लत।" इसका अर्थ है कि पहलेसे अशुद्धि आरम्भ हुई है, परन्तु यदि हम कहें कि "आरम्भ ही अशुद्ध" तो सुननेवालोंको वह आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता, जो "बिस्मिल्ला ही ग़लत" सुननेसे होता है। हाँ, संस्कृतकी कहावत "प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः" इसका मौजूं तर्जुमा है।

(६) विशेषणके विषयमें हिन्दीने कमाल किया है। यह नहीं कि उसने फ़ारसीके विशेषण नहीं लिये, परन्तु कई अरबी फारसीके विशेषणोंको भी भाषाकी प्रकृतिके साँचेमें ढालकर हिन्दी रूप दे दिया। जैसे सादा, ख़ासा, जुदा और ताज़ा शब्दोंके बहुवचन सादे, खासे, जुदे और ताज़े तथा स्त्रीलिंग सादी, खासी, जुदी और ताजी बनाये गये। दिल्लीके खोंचेवालेकी पुकार है :—

कोई कहे बाबू इधरको आओ, देखो चीज क्या खासी।
ताजी लो तो हैगी याँपर और वाँपर है वासी॥

(७) हिन्दीमें क्रियाओंकी कमी न थी। पर तो भी फारसीके संसर्गसे हिन्दीने दो तरहसे क्रियाएँ बनायीं। एक तो फारसी शब्दोंमें "होना" "करना" आदि क्रियाएँ लगाकर नामद्योतक संयुक्त क्रिया nominal compound verb रूपसे और दूसरे, फारसी मसदरमें या हासिल मसदरमें "ना" प्रत्यय लगाकर नामधातुवत्। पहलेके उदाहरण हैं, क़बूल करना, इनकार करना, सैर करना, इन्तज़ार करना, पशेमान होना, खुश होना, नाराज़ होना, गुस्सा होना, ख़फ़ा होना, तङ्ग होना, दिक़ होना, तमाशा देखना, राह देखना, इत्यादि।

अब दूसरेके उदाहरण लीजिये। देखिये, फ़ारसी मसदरों— क्रियाओंसे कैसे हिन्दीमें नयी क्रियाएँ और कहीं कहीं उनके नये अर्थ आये हैं।

गुज़िश्तन मसदरसे हिन्दीमें **गुज़रना** क्रिया बनी। इसका अर्थ हुआ बीतना। "गुज़रना" निकलना, to pass अर्थमें भी आता है। परन्तु हिन्दीमें गुरज़ना और गुज़र जाना क्रियाका अर्थ मर जाना हो गया; जैसे उन्हे गुज़रे आज कई दिन हो गये। इसी अर्थपर किसी शाइरने यह विनोदपूर्ण पद्य कहा है :—

मुझे तो रास्ता चलनेमें भी अब खौफ़ आता है।
सुना है जबसे मर जानेको भी कहते हैं गुज़र जाना।

फ़र्मूदन मसदरसे हिन्दी क्रिया फर्माना बनी। इसका प्रयोग हिन्दीमें अधिकतर व्यंगमें होता है।

क़बूलसे कबूलना, शर्मसे शर्माना, बदलसे बदलना इत्यादि क्रियाएँ बन गयीं।

बख़शीदन मसदरसे बख्शाना क्रिया ही नहीं बनी, परन्तु संस्कृत "दत्त" और हिन्दी "दीन" तथा पञ्जाबी "दित्ता" अर्थमें भी बख्श शब्दका प्रयोग होने लगा, जैसे माताबख्श, गुरुबख्श इत्यादि। आगे चलकर यह 'बख्श' बक्स या बकस बन गया और हरीबक्स, देवीबक्स आदि नाम इसके योगसे बने।

रंज फारसीमें दुःखको कहते हैं, परन्तु बिहारके लोग बहुधा नाराज़ होने या ग़ुस्सा होनेके अर्थमें रंज होना बोलते हैं; जैसे, मेरा तो कोई क़सूर नहीं है, आप क्यों रंज होते हैं ?

लर्ज़ीदन मसदरसे लर्जना क्रिया बनी, जिसका अर्थ है काँपना। इसका प्रयोग पद्माकर इस प्रकार करते हैं :—

पात दिन कीन्हे ऐसी भांत गनबेलिनके
परत न चीन्हे जे वे लर्जत लुञ्ज हैं।
कहै पद्माकर बिसासी या बसन्तके सु
ऐसे उतपात गात गोपिनके भुँज हैं।
ऊधो यह सूधोसो संदेसो कह दीजो भले
हरिसो हमारे ह्यां न फूले बन कुञ्ज है।
किंसुक, गुलाब, कचनार और अनारनकी
डारन पै डोलत अँगारनके पुञ्ज हैं।
चञ्चला चमकैं चहू ओरनते चाह भरीं,
चरज गयीं ते फेरि चरजन लागीं री।
कहै पद्माकर लवङ्गनकी लोनी लता
लरज गयीं ते फेरि लरजन लागीं री।

कैसे धरौं धीर बीर त्रिविध समीरैं तन
तरज गयीं ते फेरि तर्जन लागीं री।
घुमड़ घमण्ड घटा घनकी घनेरी अबै
गरज गयीं ते फेरि गर्जन लागीं री।[1]

अब हम अरबी फारसीके कुछ ऐसे शब्द बताते हैं, जो हिन्दीमें दूध-चीनीकी तरह मिल गये हैं, पर जिनके अर्थोंमें विभिन्नता है। देखिये :—

फ़ैलसूफ़ यूनानी भाषाका शब्द है, जिसका अर्थ ज्ञानी है, पर उर्दूमें दग़ाबाज़ और मक्कारके लिये आता है। अनुमान है कि व्यंग्यमें किसी मक्कारको फ़ैलसूफ़ कह दिया होगा, इसलिये यह अर्थ हो गया। जैसे किसी अनाचारीको महात्मा कह देते हैं। हिन्दीमें "उड़ाऊ" अर्थमें भी यह बोला जाता है। जैसे, वह बड़ा फैलसूफ है, इसीसे तो पैसा नहीं टिकता।

खसम अरबीमें प्रतिस्पर्द्धी या शत्रुको कहते हैं, पर हिन्दी उर्दूमें वह पति या धनी अर्थमें आता है। जैसे, ओछी पूँजी खसमै खाय। पतित्व अर्थमें हिन्दी कवितामें खसमाना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। गङ्गने लिखा है—"करत न कबूल खसमाना जू।"

तमाशा और **सैर** अरबीमें केवल गति या चालके अर्थमें हैं, पर हिन्दीमें इनका अर्थ पेखना है। जैसे, चलो बागकी सैर करें। आज वहाँ अच्छा तमाशा है।

खैरात अरबीमें नेकियाँ अर्थ देता है। परन्तु हिन्दी, उर्दूमें दान अर्थ आता है। जैसे, जब पेट लगा फटने, तब खैरात लगी बटने।

तकरार अरबीमें दोबारा कहने या काम करनेको कहते हैं। हिन्दी, उर्दूमें बतबढ़ या झगड़ेके अर्थमें इसका प्रयोग होता है।

तूफ़ान अरबी शब्द है और इफ़रात या बहुतायतके लिये फारसीमें आता है। हिन्दीमें अन्धड़के लिये बोलते हैं। उर्दूमें तुहमत या दोष अर्थमें भी आता है। अंगरेजीमें इसे टाइफ़ून (typhoon) कहते हैं।

---

१. जगद्विनोद, वसन्त और वर्षा-वर्णन।

ख़फ़ीफ़ अरबीमें हल्की चीजको कहते हैं। उर्दू हिन्दीमें शर्मिन्दा या लज्जित अर्थमें भी आता है। जैसे, वह मिले तो सही, देखो कैसा खफ़ीफ़ (शर्मिन्दा) करता हूँ।

मसाला (बहुवचन **मसलहत**) यह मासलाहका संक्षिप्त रूप है। हिन्दी, उर्दूमें गरम मसाला, इमारतके सामान या किसी और वस्तुके संग्रहको भी कहते हैं। मसलहत परामर्श अर्थमें आता है।

ख़ातिर अरबी फारसीमें दिल या ख़यालके मौक़ेपर बोलते हैं। उर्दू हिन्दीमें "ख़ातिर जमा रखना" निश्चिन्त रहनेके लिये तो कहते ही हैं, पर "ख़ातिर" कहा मानने या आदर सत्कार करनेके लिये भी आता है। जैसे, तुम्हारी ख़ातिर मुझे मंजूर है। जायसी और गो० तुलसीदासने सत्कार करना अर्थमें "मनुहारि" का प्रयोग किया है।

दस्तूरी जिस अर्थमें बोलते हैं, वह यहींका है।

रोजगार फारसीमें ज़मानेको कहते हैं। हिन्दीमें नौकरी या व्यवसाय-को कहते हैं। जैसे, "बिना रोजगार रोजगारी देत घरके लोग।"

जुलूस अरबीकी जलस धातुसे बना है, जिसका अर्थ बैठना है। इसीसे मजलिस, जलसा और इजलास बने। पर हिन्दी, उर्दूमें चलते जल्सेका नाम जुलूस हो गया।

रूमाल जिस अर्थमें यहाँ बोलते हैं, वह यहीं निकला है। फ़ारसीमें रूपाक या दस्तपाक कहते हैं।

ख़ैरोसलाह साधारण लोग "ख़ैरसल्लाह" क्षेमकुशल अर्थमें बोलते हैं, मारवाड़ियोंमें सल्लाह शब्द हालके अर्थमें भी बोलते हैं। जैसे, के सल्लाह हैं? उत्तर—चोखी सल्लाह है।

राजीखुशी आनन्दमंगल या सही-सलामत अर्थमें लिखते-बोलते हैं। जैसे, हम राजीखुशी पहुँच गये; अपनी राजीखुशीका समाचार देना। मारवाड़ी लोग केवल "राजी" बोलते हैं। जैसे, तुम राजी हो? सब लोग राजी हैं।

कुछ शब्द रूपान्तरित हुए हैं, पर इनके अर्थोंमें अन्तर नहीं पड़ा। जैसे :–

पजावा—ईंटोंका भट्टा। फ़ारसी पज़ीदन मसदरसे पज़ावह बना है।

टाटबाफ़ी तारबाफ़ीका बिगड़ा रूप है। इसका अर्थ ज़रीदार जूता है।

ज़री कोना और **तारतल्ला** भी जरीदार जूता ही कहाता है।

बकबक झकझक फ़ारसीमें ज़कज़क बकबक है।

गुदड़ी-गुजरी शामके वक़्तके बाजारको कहते हैं।

अफ़रातफरी इफ़रात और तफरीतसे बना है। असलमें निहायत, बहुतायत और निहायत कमीके अर्थ हैं। पर अब हलचल या बेचैनी अर्थमें आता है। जैसे, अफरातफरी पड़ गयी है।

कुलाँच या कुलाच तुर्की भाषामें दोनो हाथोंके बीचकी जगहको कहते हैं। इसलिये यह कपड़ा नापनेका गज है। यहाँ हिरन, खरगोश वगैरह जानवरोंके दौड़नेको कुलाँच भरना कहते हैं।

वहशीको हमने देखा उस आहू[१] निगाहसे।
जंगलमें भर रहा था कुलाँचे हिरनके साथ।। (ज़ौक़)

मुर्गा फारसीमें मुर्ग़ केवल पक्षी है। हिन्दीमें मुर्गा कुककुटको कहते हैं और मुर्ग़ी इसकी मादा है। मुर्गोंकी लड़ाई होती है और बड़े शौकसे लोग इसे देखते हैं। मुर्ग़बाज़ी एक व्यसन है।

चिक—चिक या चिग तुर्की भाषामें बारीक पर्देको कहते हैं। यहाँ चिलमनको चिक कहते हैं।

कत्ता तुर्कीमें बड़ेको कहते हैं। यहाँ मोटेको कहते हैं। हट्टाकट्टा बोलनेका मुहावरा है।

नज़र दृष्टि अर्थमें आता है। जैसे :—

सब कुछ इसीमें है, पर चाहिये नज़र (नज़ीर)

नज़र आना=दिखना। जैसे :—

---

१. हिरन

भांग जब चढ़ती है, क्या ही मज़ा दिखाती है।
मक्खियाँ उड़ती हैं और ईंट नज़र आती है।।
हाथीसा ज्वान भुनगा नजर आवे।

नज़र लगना, कुदृष्टि लगना है

नज़र, नज़राना भेंटको भी कहते हैं।

ख़त चिट्ठीके अर्थमें आता है। जैसे, ख़त-किताबत। (चिट्ठी-चपाती) बन्द है। दाढ़ी अर्थमें भी इसका प्रयोग होता है। जैसे, ख़त बनवा लो।

सफाई उड़ गयी चेहरेकी जब ख़तका निकाल आया।
कहाँ रहती है वह क़ीमत कि जब चीनीमें बाल आया।।

नशा मादकताको कहते हैं।

मज़ा आनन्द है।

ज़बानी चिट्ठी लिखनेके साथ चिट्ठी ले जानेवालेसे कुछ ज़बानी भी कहलानेकी चाल थी। फ़ारसी न जाननेवाले इसे 'मुँह जबानी" भी कहते हैं। उसका हिन्दी नाम मुखाग्र या मुखागर है।

तुलसीदासजीने लंका-काण्डमें लिखा है—"कहेउ मुखागर मूढ़ सुन।"

सानी अरबी शब्द है, जिसका अर्थ द्वितीय है। अद्वितीय अर्थमें लासानी बोलते हैं। सीतल कविने सानी शब्दका भी प्रयोग किया है। जैसे—

बरनन करनेको क्या बरनूँ बरनूँगा जेती बानी है।
ग्रह तीन उच्चके पड़े हुए जानी यह यूसुफ़ सानी है।

सानी शब्द जो हिन्दीका है, उसका अर्थ मिला हुआ चारा है, जैसे गायकी सानी।

निवाजिश फारसीमें कृपा और **निवाज** कृपालुको कहते हैं। तुलसीदास आदिने "ग़रीबनेवाज" शब्दका प्रयोग किया है। पर किसी-किसीने नेवाजना क्रिया भी बना ली है। जैसे,

द्वार धनीके पड़ि रहैं धका धनीके खाय।
कबहूँ धनी नेवाजही जो दर छांड़ि न जाय।।

जाय ज़रूर जाज़रूर या पायख़ाना हिन्दीमें कहते हैं। एक कविने किसी अनुदार धनीको टटोलकर जब मूज़ी पाया, तब एक कवित्त बनाया, जिसका अन्तिम चरण है—"आये ते दुवारे छोट ना जान्यो तुम, लागत ज़रूर तब जाजरूर जाइत है।"

"ऐन निवाजिश है" उर्दूमें आम तौरसे बोलते हैं। बहुतसे अरबी फ़ारसीके शब्दोंकी प्रकृतिके अनुकूल हिन्दुस्तानका जलवायु न हुआ, इसलिये वे पिछले पैरों लौट गये। नवाब बादशाहोंने हिन्दुस्तानमें कितने ही हिन्दी और फारसी शब्दोंका संस्कार किया और किसीका नया नाम रखा। घोड़ेका रंग जिसे हिन्दुस्तान में सुरंग कहते ह, फारसीमें कुरंग कहाता है। पर हिन्दीमें "कु" का अर्थ बुरा है, इसलिये अकबरने इसका नाम सुरंग रखा। घोड़ेकी आँखोंपर जो अँधेरी बाँधी जाती है, उसका नाम "उजियाली" रखा। भंगीको हलालख़ोरका खिताब भी इसी बादशाहने बख़्शा है।

इसी तरह जहाँगीरने शराबका नाम रामरङ्गी और मुहम्मदशाहने संगतरहका नाम रंगतरह और बुलबुलका गुलदुम रखा। हार (हरण करना) असगुन समझकर उसका नाम फुलमाल रखा गया। शाह आलमने सुरख़ाबको गुलसिर्रा कहा, परन्तु इसका प्रचार नहीं हुआ। सुरखाब चकवेका नाम है। सुरख़ाबका पर खोंसना या लगाना बड़ी योग्यताका चिन्ह समझा जाता है।

इसी प्रकार लखनऊके नवाब सआदतअलीखांने मलाईका नाम बालाई रखा, परन्तु दिल्लीकी ओर यह प्रचलित नहीं हुआ।

किसी भाषासे शब्द ले लेनेकी चाल तो संसारभरमें है, पर मुहावरे लेनेकी नहीं है। हिन्दीने इस विषयमें यह नियम भी तोड़ दिया है और उर्दू शाइरोंने तो मुहावरोंका तर्जुमा कर लिया है।

आबशुदन पानी होना फारसीका मुहावरा है। हिन्दीमें बोलते हैं, वह पानी पानी हो गया।

आग दोजखकी भी हो जायगी पानी पानी ।
जब यह आसी[1] अर्के शरममें तर जायँगे ।। (ज़ौक़)

हर्फ़ आमदन लाञ्छन लगना और **दिल खून शुदन** दिल खून होना।

हर्फ़ आये मुझपे देखिये किसके किसके नामसे ।
इस दर्दसे अफ़ीक़का[2] दिल खूने यमनमें है ।

पैमाना पुरकर्दन मार डालना—

साक़ी चमनमें छोड़के मुझको किधर चला।
पैमाना मेरी उम्रका ज़ालिम तू भर चला।।

अज़ जामा बिरूँ शुदन जामेसे बाहर होना ।

निकला पड़े है जामेसे कुछ इन दिनों रक़ीब[3]
थोड़े ही दम दिलासेमें इतना अफर चला ।। (सौदा)

बे आब मोज़ा कशीदन बिना पानी मोजे उतारना । पानी हो तो मोजे उतारना चाहिये । अकारण क्रुद्ध होनेको कहते हैं ।

दिल दादन दिल देना, आसक्त होना ।

दिल देके जान पै अपनी बुरी बनी ।
शीरीं कलामी आपकी मीठी छुरी बनी ।। (ज़फ़र)

अज़जान गुज़श्तन जानपर खेल जाना ।

वहाँ जाये वही जो जानसे जाये गुज़र पहले । (ज़फ़र)

ज़मीन आस्मानके क़ुलाबे मिलाना आकाश-पाताल एक करना ।

क़ुलाबे आस्माँ व ज़मींके न तू मिला ।
उस बुतसे कोई मिलनेकी नासह बता सलाह ।। (ज़ौक़)

बाज़ आना छोड़ बैठना या हाथ उठा लेना ।

मैं बाज आयी दिलके लगानेसे ।
बलि-बलि आयी बाज मौन याहीते ठान्यो । (गिरिधर)

---

१. पापी । २. संयमी, परहेजगार । ३. यार या आशिक ।

(८) हिन्दी वाक्य-रचनाका साधारण नियम है कि वाक्यमें पहले कर्त्ता, फिर क्रिया और अन्तमें कर्म रहे और यदि अन्य कारक हों, तो बीचमें रखे जायँ। परन्तु फ़ारसीमें यह बात नहीं है और फारसी ढङ्गके वाक्योंकी हिन्दीमें भरमार हो रही है। उदाहरणार्थ—(१) न सिर्फ आप आवें, बल्कि अपने दोस्तोंको भी लावें। (२) बावजूद इसके कि मैं था, मुझे इत्तिला न दी गयी। यही बात 'करीमुल्लुगात' में देखी जाती है, जहाँ मुहम्मदकी बेटीके बदली 'बेटी मुहम्मदकी' लिखा मिलता है। इस प्रकारके वाक्योंका कुछ कारण है और वह यह कि पहले-पहल मुसलमानोंने ही हिन्दी गद्यकी रचना की और उनकी लेखन-शैली वा वाक्य-रचना प्रणाली फारसी ढङ्गकी थी। उनका ही अनुकरण अन्य लेखकोंने किया और इस प्रकार फारसी ढङ्गकी हिन्दीकी नींव पड़ी। सैयद इनशाअल्लाखांने अपनी "रानी केतकीकी कहानी" की भूमिकामें लिखा है:—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ अपने उस बनानेवालेके सामने जिसने हम सबको बनाया......।"

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्दने इसी भाषाका अनुकरण किया और लिखा:—

"कुछ बयान अपने खान्दानका और कारण इस ग्रन्थके छपनेका।"

राजा साहब तो हिन्दुस्तानीके हामी थे, इसलिये उन्होंने इस ढंगका वाक्य लिखा, तो क्षन्तव्य है। परन्तु उन्हें क्या कहा जाय, जो हिन्दीके तरफ़-दार हैं और ठेकेदार हैं, फिर भी वाक्य वैसा ही लिखते हैं। कई साल पहले प्रकाशित "हिन्दी साहित्यका इतिहास" नामक ग्रन्थके लेखकने अपनी भमिकामें यह वाक्य लिखा है:—

"अत्यन्त श्रद्धा और आदरके साथ मैं आभारी हूँ रायबहादुर श्रीयुत माननीय पण्डित श्यामबिहारी मिश्र, दीवान ओछड़ा राज्यका....।"

निश्चय ही यह वाक्य-रचना हिन्दीकी तो कही ही नहीं जा सकती, फिर भी आश्चर्य यह है कि इस अवतरणमें अरबी, फारसीके शब्दकी गन्ध-तक नहीं है।

उपसंहार

इस विवेचनको समाप्त करनेके पहले यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कोई तीन सौ और इनसे भी ज्यादा सालोंसे उर्दू हिन्दुस्तानी मुसलमानोंकी बोलचाल और साहित्यकी भाषा रही है, परन्तु हिन्दीने अपने साहित्यिक जीवनके अभीतक दो सौ वर्ष भी समाप्त नहीं किये। यह सच है कि हिन्दी, उर्दू के पहलेसे ही बोलचालकी भाषा रही है, परन्तु वह बहुत थोड़े लोगोंकी बोली थी और उर्दूसे उसको बड़ा सहारा मिला। जो भाषा बहुत अधिक लोग बोलते हैं, उसीमें परिवर्त्तन भी अधिक होते हैं, इसलिये उर्दूमें समय समयपर शब्दोंके रूपोंमें जो परिवर्त्तन हुए, वे हिन्दीमें भी ले लिये गये। जैसे पहले "सब" सर्वनामके बहुवचनका सामान्य रूप "सबों" बनता था। उर्दूवालोंने "सब" में बहुवचनके लिये "ओं" लगानेकी आवश्यकता नहीं समझी और दोनो वचनोंमें "सब" का ही सामान्य रूपमें प्रयोग प्रारम्भ किया। अब कोई "सबों" लिखता है, तो हिन्दीवाले ही उसे गँवार समझते हैं। इसी तरह "जिन्हों" "जो" सर्वनामके बहुवचनका सामान्य रूप था। उर्दूके नामी शाइरोंने भी "जिन्होंके" "जिन्होंकी" जैसे पद लिखे हैं। (देखिये पृष्ठ १२९) परन्तु बादकी उर्दूने उन्हें अशोभन समझ कर त्याग दिया और हिन्दीने भी उसका अनुकरण किया। अब वह केवल तीसरी विभक्तिके बहुवचनके सामान्य रूपमें दिखायी देता है। यही हाल "जो" शब्दके बहुवचनके सामान्यरूप "जिन" का है। दूसरीसे पाँचवीं विभक्तितक तथा सम्बन्धवाचक प्रत्यय "का" के पहले "जिन" सामान्य रूप होता था। पर अब तीसरी विभक्तिके बहुवचनको छोड़ सर्वत्र "जिन" सामान्यरूप माना जाता है, परन्तु तीसरी विभक्तिमें "जिन्हों" ही सामान्य रूप होता है। पहले उर्दू शाइरोंने तीसरी विभक्तिमें "जिनने" लिखा है, जैसे "जिनने देखे तेरे लबे शीरीं, नहिं उनकी निगाह

शकरकी तरफ़।" परन्तु अब तो राजपुताने और मध्यभारतके बाहर इन प्रयोगोंके बोलनेवाले हिन्दीमें भी नहीं मिलते, उर्दूका तो कहना ही क्या है?

"से" के बदले "सों" वलीने ही लिखा है। "तलक" सम्बन्ध-वाचक अव्ययका प्रयोग "तक" के लिये होता था; "आकर" के लिये "आनकर" लिखा जाता था। और तो क्या, शम्सुल-उलेमा मौलाना मुहम्मद हुसेन साहब "आज़ाद" मरहूमने भी लिखा है :—

क़िस्मतमें जो लिखा था सो देखा है अब तलक।
और आगे देखिये अभी क्या क्या हैं देखते॥

"आता है", "करता था" आदि धातुरूपोंका प्रयोग उर्दूके लेखकोंकी कृपासे हो रहा है। पहले "आये है," "करै था" प्रयोग प्रचलित थे। मीरने भी लिखा है :—

नामा जो वहाँसे आये है सो तीरमें बँधा।
क्या दीजिये जवाब अजलके पयामका।

सौदाने लिखा है :—

क्या इसको गोश करे था जहाँ अहले कमाल।
यह सङ्गरेज़ हुआ हूरे अदन मुझसे॥

आजकल "सो" के बदले हिन्दीवाले बहुधा "वह" ही लिखते हैं।

उर्दू शाइरों और लेखकोंने भाषामें जो तराश-ख़राश की है, उससे उसमें बहुत सुघड़पन आ गया है। इसके लिये हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिये। साधारण शब्दोंमें लिखी हुई उर्दू कविता कैसे चित्तको आकर्षित करती है, परन्तु वे ही शब्द हिन्दी कविताको क्यों मनमोहिनी नहीं बनाते, यह क्या विचारणीय नहीं है? अवश्य ही पहलेसे अब हिन्दी कवितामें भी अधिक सजीवता देखी जाती है, तथापि अब भी उसमें कसर है। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि जिस भाषामें उर्दूकी कविता होती है,

वह कविके नित्य व्यवहारकी भाषा है, परन्तु हिंदी कवि अपने घरमें और कभी-कभी बाहर भी जो भाषा बोलता है, वह वर्त्तमान कविताकी भाषा अर्थात् हिंदी-खरी बोलीसे भिन्न होती है। यही कारण है कि सदल मिश्रजी के "नासिकेतोपाख्यान" और लल्लूलालजीके "प्रेमसागर" की भाषा सैयद इनशाअल्लाखांकी "रानी केतकीकी कहानी" की भाषाका मुकाबिला नहीं कर सकी।

हिन्दी लेखनकलाके विद्यार्थियोंको कुछ उर्दू अवश्य सीखनी चाहिये, क्योंकि इसके बिना उन्हें शब्दोंके और अर्थोंके परिवर्त्तनोंका ज्ञान नहीं हो सकता। मँजी हुई भाषा लिखना और बोलना दो ही तरहसे आता है, या तो वह लेखक या वक्ताके नित्य व्यवहारकी भाषा हो या लेखक बननेका प्रयासी भाषाविद् गुरुओंकी संगत करे। उर्दूके नामी शाइरोंमें सबके उस्ताद थे। इसके सिवा सुसङ्गतसे लाभ उठानेमें वे भी कभी पश्चात्पद नहीं होते थे। दिल्ली और लखनऊके शाइरों और लेखकोंमें जो अन्तर है, वह निराधार नहीं है। वे नये रूप, नये अर्थ और नये महावरे निकालते हैं और कभी-कभी विपक्षी उन्हें स्वीकार करते हैं। हिन्दी शब्दोंके इतिहासका ज्ञान उर्दू शब्दोंके इतिहासके जाने बिना नहीं हो सकता।

दूसरा कारण यह है कि हिन्दी कवितामें आजकल हिन्दीपनका अभाव रहता है और वह संस्कृतके अप्रचलित और कहीं कहीं अशुद्ध शब्दोंके बोझ से बेतरह दबी दिखायी देती है।